जीवन-सौरभ

विमला ठकार

जीवन-सौरभ

विमला ठकार

VIMAL
PRAKASHAN TRUST
'Vimal Saurabh'
Vaniya Wadi Street No. 9,
Rajkot-360 002. (Guj.)
Mob. : 99255 29096
E-mail : vimalprakashantrust@yahoo.com

प्रकाशक

शकीलम् फाउन्डेशन, बम्बई

© विमला ठकार/विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

प्राप्ति स्थान : १. 'शकीलम् फाउन्डेशन', शान्तिनिकेतन
पो० बॉ० ७६०२ मलाड, बम्बई-४०००६४
२. विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

Books available at:
VIMAL PRAKASHAN TRUST
"SANTKRUPA"
103, 1st FLOOR, RATNAM TOWER,
B/H. CHIEF JUSTICE'S BUNGALOW,
JUDGES BUNGALOW ROAD,
BODAKDEV, AHMEDABAD - 380015.
PHONE NO: -079 6854991

प्रथम संस्करण : १९८९

मूल्य : Rs 35-00

मुद्रक :
तारा प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी-२२१०१०

प्रकाशक का निवेदन

रेवा के तीर्थतट पर प्रकृतिसौन्दर्य से विभूषित सुशान्त स्थल पर पूज्या विमलाताई ठकार के तत्त्वावधान में 'ध्यानशिबिर' आयोजित हुआ था, उसमें उपस्थित रहने का सौभाग्य हमें मिला था। उनके प्रेरणादायक पाँच प्रवचन सुनने का अवसर पाकर धन्यता का अनुभव हुआ। पूज्या विमलाताई ने हमारी तत्त्वज्ञानजन्य धर्मसंस्कृति की सुगन्ध भारत-भर में ही नहीं विश्व में फैलायी है यह सुविदित तथ्य है। अध्यात्म जैसे गूढ़ तत्त्वज्ञान के विषय को प्रासादिक सरल शैली में समझाने की उनकी ईश्वरदत्त क्षमता का दर्शन उनके सभी व्याख्यानों में हो रहा था। हम पर उसका गहरा एवं प्रेरणात्मक प्रभाव हुआ। 'चित्त की एकाग्रता' एवं 'ध्यान' के बीच का सूक्ष्म भेद उन्होंने जिस सुन्दर रीति से स्पष्टता से समझाया है एवं अध्यात्म का नया अभिगम मानवजाति के सम्मुख जिस मार्मिक एवं प्रेरणादायी रूप में रखा है इसमें उनकी प्रतिभा का सहज प्रतिबिम्ब निदर्शित हो रहा है।

इस शिबिर में हुए व्याख्यानों एवं प्रश्नोत्तरों का सात्त्विक प्रसाद पाकर हमारे मन में यह विचार आया कि इनका पुस्तकरूप में प्रकाशन होने से इनका लाभ अपने देश के संस्कारप्रेमी समस्त समाज को भी मिल सकेगा। आज के प्रदूषित युग में नवप्रकाश की विशेष रूप से आवश्यकता है। इस समय ऐसा प्रकाशन होने से भावनाशील युवक-युवतियों को जीवन का विशुद्ध मार्गदर्शन मिलेगा, चहुँ ओर छा रहे निराशा के अन्धकार को यह दूर करेगा एवं देश का भावी उज्ज्वल बनेगा।

'शकीलम्' फाउन्डेशन का एक उद्देश्य ऐसे धर्म-संस्कृति-प्रेरक ग्रन्थों का प्रकाशन करना है; इसलिये इन व्याख्यानों को प्रकाशित करने की सहज स्फुरणा मन में जागी। इसके लिये पूज्या विमलाताई की सम्मति मिली इसका सात्त्विक आनन्द शब्दातीत है। 'शकीलम्'—फाउन्डेशन इससे धन्य हुआ है।

इस पुस्तक का नाम 'जीवन-सौरभ' पूज्या विमलाताई ने सुझाया है। आज के प्रदूषित वातावरण में भारतीय धर्मसंस्कृति का सत्त्व इन व्याख्यानों में रसात्मक रीति से प्रकट किया गया होने से, एवं जीवन का मार्गदर्शक बने ऐसा होने से यह सर्वथा यथार्थ है। ऐसा सुन्दर एवं सुयोग्य नाम सूचित करने के लिए भी हम उनका अन्तःकरणपूर्वक आभार मानते हैं।

इस पुस्तक को हमारी इच्छानुसार प्रकाशित करवाने में महत्त्व का भाग अदा करने के लिए हम शिविर-प्रयोजक श्रीबचुभाई सुतरिया का, तथा इसका सुन्दर सङ्कलन-सम्पादन आदि करने के लिये 'विमल-प्रकाशन' का हार्दिक आभार मानते हैं।

शकीलम् फाउण्डेशन,
मलाड, बम्बई-४०००६४
दि० १-८-१९८९

—शरद पटेल एवं
किरण पटेल

प्रास्ताविक

पूज्या विमलाजी के सान्निध्य में गुजरात में १९६८ से ही अनेकों वर्षों तक ध्यान शिविर आयोजित होते रहे। परन्तु १९८२ में नारेश्वर के शिविर के बाद गुजरात में युवाशिविरों का क्रम चला। ये युवाशिविर सौराष्ट्र-क्षेत्र में आयोजित हुए। पुनः पिछले ३–४ वर्षों से हम अनेकों मित्र गुजरात के मध्य-भाग में सब जिज्ञासुओं के लिए एक ध्यानशिविर लेने के लिए पूज्या विमलाजी को प्रार्थना कर रहे थे, पिछले वर्ष (८८ नवम्बर में) बड़ौदा में गुजरात बिरादरी के सफल सम्मेलन के बाद विदा लेते समय उन्होंने ध्यानशिविर के लिए अनुमति दी।

इस तरह यह शिविर नर्मदा-तट पर सरदार सरोवर नर्मदाबाँध के रचना-स्थान पर उसी विशाल परिसर में बनी केवड़िया-कॉलोनी में दि० १५ से २० फरवरी १९८९ को आयोजित हुआ। इस शिविर में बम्बई से कच्छ तक के प्रायः २४० जिज्ञासु-सत्सङ्गी मित्र सहभागी हुए।

शिबिर पूरा होने तक में ही अनेकों मित्रों की माँग होने लगी कि इस शिबिर के प्रवचनादि का पुस्तकरूप प्रकाशन अवश्य होना चाहिए; और सद्-भाग्य से शिविरार्थियों में से ही एक मित्र श्री शरदभाई पटेल ने शकीलम् फाउण्डेशन-शान्तिनिकेतन, (मलाड, बम्बई) की तरफ़ से यह पुस्तक शीघ्र ही प्रकाशित करने की इच्छा प्रकट की।

इस प्रकार शकीलम्-फ़ाउन्डेशन के आर्थिक सहयोग एवं 'विमल-प्रकाशन' द्वारा सानन्द ध्वनि से लिपिकरण, सङ्कलन व सम्पादन के फलस्वरूप यह पुस्तक प्रकाशित हो रही है। इसमें प्रवचन-प्रश्नोत्तरियों के समाप्ति वाले पृष्ठों पर तथा मुख्य सामग्री के अन्त में भी कुछ चुने हुए वाक्य एवं कवितायें– श्रद्धेया विमलाजी की ही वाणी के प्रथम हिन्दी-उन्मेष-रूप "मौन के अनुनाद" तथा उनके ही अनेकों पुस्तकों व व्यक्तिगत पत्रादि लेखनों में से संकलित संग्रह "पावकस्फुलिङ्ग" में से उद्धृत हैं। (प्रो० डॉ० प्रेमलताजी शर्मा द्वारा सङ्कलित-सम्पादित वे दोनों पुस्तकें प्रायः १२ वर्ष से अप्राप्य हैं।)

प्रस्तुत पुस्तक में प्रत्येक पृष्ठ में चल रहे विषय का मुख्य आशय पृष्ठ के ऊपर लघुशीर्षक के आकार में रखा गया है एवं पाठकों की सुविधा के लिए अनुक्रमणिका में वे सब अनुशीर्षक एकसाथ दे दिये गये हैं।

इस पुस्तक के सुन्दर मुद्रण के लिए हम तारा यन्त्रालय, वाराणसी के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

१८-७-१९८९
गुरुपूर्णिमा

बचुभाई सुतरिया
विमल-प्रकाशन-ट्रस्ट

यत्र सर्वं यतः सर्वं यः सर्वं सर्वसंश्रयः।
तं सर्वसाक्षिणं विश्वं नमस्ये परमेश्वरम्॥
नमस्तस्मै नमस्तस्मै नमस्तस्मै महात्मने।
नाम रूपं न यस्यैको योऽस्तित्वेनोपलभ्यते लभ्यते॥

—विष्णुपुराण, प्रह्लादोक्ति।

अनुक्रमणिका

विषय **पृष्ठसंख्या**

१. प्रथम प्रवचन **१–१८**

जीवन सर्वोपरि व पवित्र; भोग नहीं रस सेवन; जीवन-दर्शन का आधार; बुद्धिप्रामाण्य, शब्द की पकड़; शब्द-ज्ञान मर्यादित, सुरक्षा का भ्रम; बौद्धिक क्रिया यान्त्रिक; आदत, अनुकरण जीवन नहीं; ज्ञान बौद्धिक, समझ प्रज्ञा-कर्म; अध्यात्म में मुफ़्तखोरी नहीं; ध्यान कोई क्रिया नहीं; विचार चलना सङ्कट नहीं; पापों का मूल भीरुता; "करना" थमे तब मौन; अनन्त ऊर्जाओं का भण्डार 'शून्य' आयाम; आन्तरिक क्रान्ति का साहसी नया मानव; शब्द-किनारे छोड़ अज्ञात की ओर यात्रा।

२. प्रश्नोत्तरी **१९–२९**

ध्यान में चित्त की एकाग्रता का महत्व ? ध्यान समग्र अस्तित्व की अवस्था; साक्षीभाव और द्रष्टृत्व का अन्तर; आकलन व बोध के अनुसार जीवन; बोध सत्त्व बने तब अनुकरण नहीं; आत्मबोध में से आचरण; अतिश्रम और अरुचि मौन में बाधक; अस्वस्थ उदर तथा ज़बर्दस्ती का परिणाम तन्द्रा व जड़ता; उपासना भक्ति में उपयोगी, अध्यात्म में नहीं; अक्षोभ्य अवस्था—शान्ति; सहज आह्लाद-शान्ति-सन्तुलन मन का स्तर नहीं।

३. द्वितीय प्रवचन **३०–४२**

वक्ता एवं श्रोता की जिम्मेवारियाँ; लज्जा-भय-सङ्कोच छोड़ने पर ही सत्सङ्ग सम्भव; पृथक् व्यक्तित्व—मनुष्य का भ्रम; "मैं" की हस्ती—एक भ्रम; सामूहिक चित्त का नमूना 'व्यक्ति'; निरुपाधिक देखना सीखें; भीतर दिखते दृश्यों मे नया सम्बन्ध; मानवमात्र के लिये समग्र चिन्तन; 'मेरे'–पन का क्षेत्र बदलना मुक्ति नहीं; मन की कोई क्रिया 'आध्यात्मिक' नहीं, अवलोकन से क्लेशमुक्ति; यान्त्रिक क्रिया का विसर्जन; दिखती क्रिया में दखल नहीं,

अपनी; अनर्जित आय न चाहें—अध्यात्म में भी ! उधार से गुणात्मक परिवर्तन असम्भव; अध्यात्म प्राप्ति का क्षेत्र नहीं; समझना और होना, 'बनना' नहीं; हमें चाहिये क्या ? अनुकरण से परिवर्तन नहीं होता; जीते जी मर जाना अपेक्षित; प्रामाण्य छोड़कर अज्ञात में छलाँग; श्रद्धा ही फलती है; स्वाधीनता की अभीप्सा दुर्लभ ।

१०. "मौन के अनुनाद" १४४–१५०
तथा कवर–४

शुद्धिपत्रक

[छपते समय मुद्राराक्षस के अट्टहास में कुछ अक्षर व मात्रायें झड़ जाने से अथवा अन्य प्रमाद के कारण रही हुई भूलें सुधार लेने के लिए सहृदय पाठकों से नम्र प्रार्थना है । अर्थ की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण कुछ शुद्धियाँ यहाँ सूचित हैं ।]

पृष्ठ संख्या	पंक्ति (ऊपर से नीचे)	अशुद्ध	शुद्ध
३	१३	गगन	करण
३	३१	(उड़ गया है)	के (उड़ गया)
११	१७	—न	बन (,, ,,)
२२	१४	ष्ट	ष्टू
३०	९	ओर	और
३३	२९	शैलो	शैली
३४	३	नमने	नमूने
३७	१०	है ।	नहीं है;
६५	१९	क.दद्र	क़द्र
७६	११	गया	गयी
७७	२०	रहते ।	रहते हैं ।
८६	१०	तहीं	नहीं
९८	१८	–isic	–istic
१०८	२	low	!aw
११०	२३	अलंकार	अहङ्कार

———

जीवन की इस मधु-सन्ध्या में
घट से जीवन रस छलके।
चित्त में संचित जीवन-सौरभ
काया को सुरभित कर दे।
दो नयनों की मधुशाला में
पलकों की प्याली छलके।।

[शिवकुल, डलहौजी, १९८६]

प्रथम प्रवचन

दिनांक १५-२-८९ प्रातः १०-३०—११-४५

आज के उत्तान व उच्छृङ्खल भोगवाद के ज़माने में राष्ट्रव्यापी भ्रष्टाचार और कुशासन के कारण त्रस्त लोग इतनी संख्या में यहाँ रेवा मैया के तट पर आ मिलेंगे, पाँच दिन पूरी तरह शान्ति से सब साथ रह पायेंगे ऐसी आशा नहीं थी। आप यहाँ आये ही हैं तो इन पाँच दिनों के लिये इस परिसर को आश्रम में परिवर्तित कर दीजिये। मेरे साथ आप भी भूल जाइये जो समस्यायें राष्ट्र के सामने हैं, समाज के सामने हैं—सामूहिक रूप से, या जो पारिवारिक समस्यायें आप के सामने हैं व्यक्तिगत रूप से। पाँच दिनों तक बुद्धि को स्थिर रखना है, बुद्धि को सन्तुलित रखना है—एक महत्त्वपूर्ण विषय के बारे में सह-चिन्तन एवं संवाद करने के लिए। यदि चित्त सन्तुलित नहीं होगा और बुद्धि स्थिर नहीं होगी तो आप 'श्रवण' नहीं कर पायेंगे। श्रवण के बिना संवाद असम्भव है। सुनने वाला और बोलने वाला दोनों के चित्त सन्तुलित हों एवं बुद्धि निर्भ्रान्त व स्थिर हो तभी संवाद निष्पन्न होता है। अतः यह मेरी पहली करबद्ध प्रार्थना है। क्योंकि ध्यान एक जीवन-पद्धति का नाम है। अध्यात्म का सौरभ व सुगन्ध है ध्यान! वह अध्यात्म है समाज की जीवनपद्धति, और व्यक्तियों की जीवनशैली। उसके बारे में हम-आप मिलकर प्रवचन एवं प्रश्नोत्तरी के रूप में सहचिन्तन-सवाद करेंगे, मौन के क्षणों पर मनन करेंगे, दिनभर की दिनचर्या में उस पर अमल करेंगे। इसे आप पञ्चदिवसीय साधना ही मान लीजिये। स्थान पवित्र है, परिसर रम्य है, आवश्यक एकान्त है और इस विषय पर चित्त-बुद्धि केन्द्रित करने के लिये शिबिरार्थियों का सहनिवास है।

हो सकता है कि जो मेरी शैली से परिचित नहीं हैं, वे प्रवचनों में ऊब जाँय, थक जाँय। क्योंकि यहाँ मनोरञ्जन या बुद्धिरञ्जन न होगा, बुद्धि का परिश्रम होगा, चित्त की शुद्धि होगी। इसमें रस हो तो थकेंगे नहीं।

अध्यात्म एक जीवनपद्धति है। इसमें जीवन सर्वोपरि, सर्वश्रेष्ठ, पवित्र है। Life is Divine. जीवन को यह सर्वोपरिता आज हमारे चित्त से विस्मृत हो गयी है, भुला दिया गया है उसे। अभारतीय संस्कृति दिल-दिमाग पर छा गयी है; पदार्थपरायणता, परिग्रह और भोग-परायणता का महत्त्व है, जीवन का नहीं। जीवन जीने के कर्म की गुणात्मकता का महत्त्व नहीं, किसी भी कर्म के शाश्वत मूल्य का महत्त्व नहीं! महत्त्व रहा है इसी का कि येन-केन-प्रकारेण पदार्थों का परिग्रह हो, इन्द्रियों के द्वारा उनका उपभोग हो। जहाँ उपभोग में जीवन की सार्थकता मानी जाती है, जहाँ पदार्थों के परिग्रह में सुरक्षा को प्रतिष्ठित किया जाता है, वहाँ सबसे उपेक्षित रह जाता है जीवन। और अध्यात्म वह जीवनपद्धति है जिसमें जीवन जीने का कर्म ही सर्वोपरि, सर्वोत्तम एवं पवित्र है।

जितनी गतियाँ आप बाहर देखते हैं सृष्टि में, निसर्ग में; जितनी गतियाँ आप भीतर देखते हैं विचारों व विकारों के रूप में—वे सब भौतिक और मानसिक गतियाँ जीवन का बहिरङ्ग हैं। इन गतियों को धारण करने वाली एक सत्ता है। जलाशय या सागर जैसे लहरियों-तरङ्गों को धारण करता है, तूफ़ानों-आँधियों को धारण करता है, वैसे जो सत्ता विचारों-विकारों के आन्दोलनों को धारण करती है, वहन-सहन करती है, अपने में समा लेती है, वह जीवन का अन्तरङ्ग है। बहिरङ्ग की गतियाँ और अन्तरङ्ग की स्थिति, सत्ता, स्थिरता ये दोनों मिलकर जीवन बनता है।

गति है पदार्थ (matter) के भीतर की ऊर्जा (energy) के कारण। अनन्तानन्त प्रकार की ऊर्जायें हमें सृष्टि में देखने को मिलती हैं। इन ऊर्जाओं की खोज में, तथा अपने लिये इन ऊर्जाओं का विनियोग-उपयोग करने के प्रयत्न में मानवीय सभ्यता ने हजारों वर्ष लगाये हैं। बड़ा महत्त्वपूर्ण काम किया है। अध्यात्म उस महत्त्व को टालता नहीं। पदार्थों के रूप में जो सघन ऊर्जायें हैं, (solidified energies) हैं—उनका इन्कार अध्यात्म नहीं करता। पदार्थों का अस्वीकार नहीं, इन्द्रियों का अस्वीकार नहीं, इन्द्रियों द्वारा होने वाले विषय-सेवन का अस्वीकार नहीं; बुद्धि एवं बुद्धि द्वारा होने वाले विचार, ज्ञान या अनु-

भूतियों का भी अस्वीकार नहीं। किन्तु अध्यात्म नाम के जीवन विज्ञान का कहना है कि ये इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध एवं अनुभूतियाँ, पदार्थों का सहवास, सेवन एवं बुद्धि द्वारा ज्ञान का अर्जन, संग्रह तथा विनियोग—इतना ही जीवन का सर्वस्व नहीं। यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग अवश्य है, किन्तु यही जीवन की समग्रता नहीं। बुद्धि को सत्यशोधन का अन्तिम साधन मानने वाले बुद्धिवादी, पदार्थों एवं उनमें समायी ऊर्जाओं को जीवन का चरम सत्य मानने वाले पदार्थवादी—इनसे आगे बढ़ता है अध्यात्म।

हमारे देखे, भारत का यही महत्त्व नहीं कि यहाँ से अनेक धर्म पनपे, पले, साथ जिए, अनेक संस्कृतियों का सङ्गम हुआ; भारत का विशेष महत्त्व यह है कि हजारों वर्ष पहले जीवन का एक समग्र विज्ञान यहाँ उद्घाटित हुआ, उद्घोषित हुआ, जिसे अध्यात्म कहते हैं। बुद्धि से सर्वथा स्वतन्त्र ऐसा भी कोई गगन है जिसकी मदद से पदार्थों में निहित ऊर्जाओं से परे, उन ऊर्जाओं को धारण करनेवाली सत्ता का स्पर्श हो सकता है, ऐसा अध्यात्म का कहना है।

इन पाँच दिनों में हम पदार्थवाद को, पदार्थों को, उनमें निहित ऊर्जाओं की चर्चा को भी अलग रखेंगे। हम अपने आप से सवाल पूछने वाले हैं कि ध्यान क्या है? यह कौन-सा मार्ग है? यह कौन-सा कर्म है जो बुद्धि से अलग है। बुद्धि से क्यों उस सत्ता का स्पर्श नहीं हो सकता? शब्द द्वारा वह क्यों नहीं पाया जाता? इतना इन पाँच दिनों में देखा जा सकेगा, विषय को और अधिक विस्तार में ले जाने से बात बिखर जायेगी।

यह अवश्य आप समझ लीजिएगा कि अध्यात्म में पदार्थों का अस्वीकार नहीं है। अस्वीकार है भोग-दृष्टि का। यह "बहुरत्ना वसुन्धरा" हमारी 'भोग्या' नहीं है। हम 'भूमिपुत्र' हैं, वसुन्धरा की हम सन्तान हैं, वह अर्चनीया-वन्दनीया है, 'सेव्या' है, भोगने की वस्तु नहीं। यों दृष्टि का अन्तर है। पर्यावरण-शास्त्र इस दृष्टि में समाया है। इस लिए अध्यात्म में उत्तान उच्छृङ्खल भोगवाद नहीं आता, "जीवनं रससेवनम्" बनता है। इस दृष्टि के रूप में, अनन्त ब्रह्माण्डों क रूप में, जड़-चेतन समी रूपों में जो अक्षय-असीम रसधारा बह रही है

उसका सेवन हम करें। 'भोग' और 'रससेवन' में मूलभूत अन्तर है। रससेवन से भी सुख होता है, आनन्द होता है, लेकिन जो सुख पदार्थसेवन से एक बार मिला वह बार-बार मिले, वह मेरी हुकूमत में रहे; सुख देने वाले पदार्थ पर मेरा कब्जा रहे; सुख देने वाले व्यक्तियों पर मेरी मालकियत रहे; समाजरचना-अर्थव्यवस्था-राज्यसत्ता मेरे अधिकार में रहे—यह हुई भोगवादी दृष्टि। भोग की बीभत्सता हिंसा है। पदार्थवाद और भोगवाद कायम रखें और हिंसा से छुटकारा पाना चाहें—यह सोचना नादानी है। दृष्टि न बदले, जीवन का आधार दर्शन न बदले, नजरिया न बदले और वृत्ति बदल जाय—यह मानना बहुत बड़ा भ्रम है।

आज का संसार (उसी में भारत भी समाया है) भौतिकवाद को दर्शन बनाये बैठा है। भोग के साधनों को बढ़ाते चलना (Proliferation of consumer goods)—इसे विकास मानती है आज की दुनिया, और सुख के साधनों पर हुकूमत रखना—इसे सुरक्षा मान बैठे हैं हम! और चाहते हैं कि भ्रष्टाचार मिटे, अनाचार-दुराचार-व्यभिचार हटे!

मित्रो! जब तक हम यह न समझेंगे कि—रस का सेवन जीवन है; पदार्थों को अपना भोग्य मानना और जैसे-तैसे उन्हें हड़पने, उन पर अपना कब्जा जमाने की कोशिश में लगे रहना, भोग के सुख का पुनरावर्तन चाहते रहना—यह आसुरी वृत्ति है, संयोगवश पुनरावर्तन हो जाय तो उससे मुँह नहीं मोड़ना है, लेकिन पुनरावर्तन की लालसा से पदार्थों का पीछा नहीं करना है—तब तक समाज में से शोषण और भ्रष्टाचार नहीं मिट सकता। सांसारिक भोगवादी वृत्ति में और आध्यात्मिक जीवनदृष्टि में जो एक मूलभूत अन्तर है उसे समझे-पकड़े रहें। अवश्य अन्न-वस्त्र-आच्छादन-आरोग्य-शिक्षण की व्यवस्था प्रत्येक व्यक्ति के लिए होनी ही चाहिये, वह न हो तो अध्यात्म का कोई अर्थ नहीं। अन्यथा मनुष्यों की भीड़ बनी रहेगी, समाज नहीं बनेगा; और पशुओं के झुण्ड में जैसे कलह होते हैं, वही मनुष्यों में होगा; परस्पर भक्षण होगा, रक्षण नहीं। इसलिए पहले ही स्पष्ट रूप से देख लेना उचित होगा कि अध्यात्म की जीवन-पद्धति के पीछे मूलदृष्टि क्या है?

दर्शन कौन-सा है ? पदार्थ और उनको ऊर्जा जीवन का एक अङ्ग-मात्र है, सर्वाङ्ग नहीं, समग्रता नहीं। इस व्यक्त एवं अव्यक्त के पीछे एक अनन्तता है। गतियों के विराट् समूह के पीछे, गतियों के आघात-प्रत्याघातों के पीछे एक चिरन्तन स्थिति है, सत्ता है। दोनों में से एक की भी उपेक्षा हो तो अनर्थ होने ही वाला है। दोनों मिलकर जीवन है। दोनों के समन्वय में, संवाद में जीवन की शान्ति और प्रसाद है।

घड़ी भर के लिये मान लीजिये कि भोगवादी जीवन-दर्शन छूट गया है। वस्तुतः वह बहुत आसानी से छूटेगा नहीं, छूटना चाहे भी तो आप उसे छोड़ना चाहेंगे नहीं। क्योंकि जीवन के उस आधार को बुद्धि छोड़ दे, तो जीवन में तहलका मच जायेगा, आमूलाग्र जीवन बदल जायेगा।

आज के युवकों में वर्तमान प्रचलित जीवन-पद्धति को तोड़ने का साहस नहीं है, और वृद्धों में उस पद्धति से मुँह मोड़ने का साहस नहीं है। आकांक्षा है, इच्छा है, लेकिन साहस नहीं है। यदि दर्शन का आधार बदल जाय, छूट जाय, तो एक आन्तरिक क्रान्ति घटित होगी। पर हम चाहते हैं समझौते। आज की हमारी जीवनपद्धति की सुख-सुविधा के साथ समझौता करते हुए जितना-सा अध्यात्म ठहर पाये उतना ही हमें चाहिए, जो ठहर पाये वही चाहिये। हमारी तथाकथित सुरक्षा के जाल को जरा-सा भी कोई धक्का न पहुँचाये। फिर बात करेंगे धर्म की, अध्यात्म की, भारतीय संस्कृति की। हम सौ बार सुनने को तैयार हैं। लेकिन आज की समाज-रचना व आर्थिक ढाँचे को बदलने की, हमारी जीवन-शैली और पद्धति को बदलने की, कोई बात सामने आये, जिसमें हमारे निहित स्वार्थ (Vested interest) को आँच आती हो, वे छोड़ने पड़ते हों, तो फिर "वह बात हमारे लिये नहीं, वह तो किन्हीं असाधारण व्यक्तियों के लिये है, वह तो तथागत बुद्ध के लिये था, भगवान् महाबीर के लिये था, वह हो सकता है रामकृष्ण परमहंस के लिये, वह रमण महर्षि के लिये, किन्हीं कृष्णमूर्त्ति के लिये वह लागू हो सकता है। हम तो सामान्य (Normal) हैं।" यानी कि वे सब महात्मा असामान्य (Abnormal) हैं ?

निहित स्वार्थ एवं सुख-सुविधा-सुरक्षा की बात चित्त में घर किये हुए है, अतः नया कुछ सुनने-मात्र से पहला छूट जायेगा—यह भ्रम मुझे नहीं है। फिर भी ये बातें सुनने का भी साहस मेरे साथ बैठ कर आप कर रहे हैं, सत्य को देखने को राजी है, इतनी सेवा आप मुझे करने देते हैं, इसकी मुझे प्रसन्नता है।

जिनके चित्त से भोग का आकर्षण छूट गया है, शान्त या क्षीण हो गया है, उनके जीवन में सत्ता है बुद्धि की, ज्ञान की। "जो बुद्धि की समझ में आ जाये वही सत्य है; जो बुद्धि से ग्राह्य नहीं, वह शाश्वत चिरन्तन सत्य नहीं हो सकता"—ऐसा मानते हैं। प्रमाण (Authority) बनी हुई है बुद्धि। सम्पूर्ण मानवजाति ने हजारों वर्षों में बुद्धि के द्वारा जो ज्ञान ग्रहण किया, इन्द्रियों के द्वारा, मन के द्वारा जो अनुभव लिये, उस ज्ञान की, उन अनुभवों की, मूल्यांकनों की Authority (प्रामाण्य) बनी हुई है अन्दर। समझ में आ गया हो कि यह पदार्थ-सृष्टि नश्वर है, बदलने वाली है, अस्थिर-अनित्य है तो इस विचार को ही पकड़ कर बैठते हैं। पदार्थों के परिग्रह का जैसे आग्रह होता है, वैसे विचारों का, आदर्शों का, ध्येयों का, मूल्यांकनों का भी आग्रह होता है चित्त में। उनके प्रति आसक्ति हो जाती है। इससे 'वाद' बनते हैं। विचारों को जब किसी चौखट में गिरफ्तार कर लिया जाता है तब वह 'वाद' कहलाता है। शुद्ध विचार-मात्र से भी कोई प्रेम नहीं है। चित्त में विचारों के 'वाद' बनाये जाते हैं। बुद्धि में उनकी 'घेराबन्दी' या 'बाड़े' बने रहते हैं—"मेरे विचार, मेरे विकार, मेरे मूल्य, मेरी पसन्दगी, मेरी नापसन्दगी"—डेरा वहाँ डाल दिया; पदार्थसृष्टि को छोड़ा तो शब्द-सृष्टि में डेरा डाल लिया। विचार मूल्यांकन-अनुभूति-ज्ञान सब शब्दमय है। पदार्थों के भोग से हटे तो हमारी आग्रही वृत्ति और आसक्त चित्त शब्दों से चिपक जाते हैं।

जैसे पदार्थों के सम्बन्ध में से मनुष्यजाति ने बहुत-कुछ सीखा है; मानवीय सभ्यता और संस्कृति इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध को परिमार्जित व शुद्ध बनाती चली गयी है; वैसे शब्दों-विचारों के साथ भी हुआ है। शब्द नाद में से बनता है। नाद मनुष्य की कृति (man-made) नहीं है। इस स्वयम्भू नाद के साथ खेलते हुए मनुष्य ने शब्द की, भाषा की

रचना की। भाषा मनुष्य-निर्मित है। नाद जीवन की सत्ता में समाहित है। शब्द-सृष्टि में फिर वाद बने, जीवन के विभिन्न क्षेत्रों (राजनैतिक-आर्थिक-सामाजिक-सैद्धान्तिक-दार्शनिक आदि) में विभिन्न विविध वाद बने।

उस विचार को पकड़ कर चलना शुरू हुआ, देखने के नजरियों-मूल्यों-मूल्यांकनों-सरणियों को अलग-अलग रास्ते Grooves, Channels बनाये। उन्हें पकड़ कर चलने में सुरक्षा लगी। जैसे पदार्थों को आधार बना कर उनका संग्रह करने में लगे थे, वैसे विचारों के ढाँचे पकड़ कर उनके सहारे चलने में सहूलियत व सुरक्षा प्रतीत होने लगी। मानों जीवन का हमें भय लगता है कि कोई भी सहारा पकड़े बिना सीधे जीवन के सामने अनावृत खड़े हो जायेंगे तो न जाने जीवन हमारे साथ क्या करेगा ? अतः जीवन के सामने अपने को ढक-लपेट कर, परिवेष्टित होकर बैठना चाहते हैं, सीधे नहीं, एकान्त में नहीं।

इस शब्द-सृष्टि में विचार के आग्रहों ने क्या किया दुनिया में धर्म के क्षेत्र में ? उस विषय में उतरना आज सम्भव नहीं है। अतः इसे इतने में ही छोड़ कर हमें आगे बढ़ना है। व्यक्त के साथ सम्बन्ध इन्द्रियों द्वारा और अव्यक्त के साथ सम्बन्ध शब्दों द्वारा बनता है। लेकिन शब्द एवं उससे होने वाला ज्ञान मर्यादित हैं, उसकी पवित्रता भी मर्यादित है। क्या आप साहस करेंगे इन पाँच दिनों में कि शब्द और शाब्दिक ज्ञान एवं विचारों को पकड़, आग्रह एवं प्रामाण्य चित्त पर से हटा कर अलग रख दें। ये शब्द और भाषायें मेरी व आपकी बनाई हुई नहीं है। शब्द, इनके परम्परागत एवं कोशों में प्राप्त अर्थ, इनके सहचारी भाव, इनके प्रयोगों की रूढ़ियाँ, यह सब हजारों वर्षों में हम में लगातार उसी तरह भर दिया गया है—जिस तरह 'कम्प्यूटर' में जानकारी भरी जाती है, उसी प्रकार मनुष्य के चित्त में संस्कार भरे हुए हैं। हमारे नाड़ीतन्त्र एवं रसायनतन्त्र (Neurological & Chemical Systems) दोनों में वे संस्कार भर दिये जा चुके हैं। हमारी शरीर-संरचना के तन्त्रों में—सप्तधातुओं में वह अङ्कित है। उन संस्कारों का व्यञ्जक शब्दसंग्रह हिन्दुओं में अलग, मुसलमानों में अलग, ईसाईयों में अलग, भारतीय धर्मसम्प्रदायों की भी विभिन्न धाराओं—

शाखा-प्रशाखाओं में जैन-बौद्ध-शिख आदि में, अलग-अलग है। उनके अलग ढाँचे बन गये हैं। विभिन्न जातियों, वर्णों, क्षेत्रीय रूढ़ियों के भी अलग-अलग ढाँचे हैं। विराट् संसार है शब्द का।

इसलिये होता यह है कि आँख खुली और सामने कुछ दिखा कि तुरन्त मस्तिष्क में शब्द उठता है—पदार्थ का नाम। नाम उद्भूत हुआ कि साथ ही वह अच्छा है या बुरा है, ग्राह्य है या त्याज्य है, यह भाव अपने संस्कारों के अनुसार उठता है। तत्क्षण निर्णय भी हो जाता है। आँख खुली, पदार्थ दिखा, कि भीतर कोई शब्द न उठा और चित्त में भाव की प्रतिक्रिया न उठी—यह होता नहीं है।

Associations of ideas, emotions & reactions together.

एक पलार्ध में—क्षणार्ध में इतना सब हो जाता है। दृष्टि जो पदार्थ देखती है, जिस परिस्थिति या घटना को देखती है—वह देखना शुद्ध नहीं रह पाता।

The purity of perception is not sustained, because the whole neurological system creates a biological structure of cognition and chemistry of cognition conditioned by educational culture.

जो दिखता है उसका मूल्यांकन हमारे संस्कारों पर आधारित है, यानी यान्त्रिक हो गया न! आज यह विशेष मुद्दा आपके सामने चिन्तन के लिए रखती हूँ कि प्रत्येक बौद्धिक क्रिया (cerebral action) यान्त्रिक क्रिया है। A repetetive mechanistic movement.

उसमें अलग-अलग प्रकार भले ही हों। प्रकारों की विविधता-विलक्षणता-सुरम्यता आदि मानवीय संस्कृति ने निर्माण की है। यह ऐश्वर्य हमें विरासत में मिला है, हमारे अस्थि-मज्जा-रक्तकणों आदि में यह सब समाया हुआ है। इसलिए जब तक विचार उठता है, जब तक बुद्धि व मन की कोई भी क्रिया या गति चलती है भीतर, तब तक हम एक विराट् यान्त्रिक सृष्टि के कल-पुर्जे मात्र हैं (A part of a global cerebral mechanism.) सम्पूर्ण मानवजाति का मन एक ढंग से चलता है, बुद्धि एक ढंग से गति करती है।

अतः ज्ञान का अर्जन करना, उसे धारण करना, शब्द द्वारा उसे व्यक्त व अङ्कित करना, इन्द्रियों द्वारा उस पर आचरण करना—यह सब एक यान्त्रिक क्रिया है। यही हमें सिखाया गया है। यान्त्रिक क्रिया एक ढाँचा बना देती है—आदत बन जाती है, गति स्वयम्भू न होकर ढाँचों में बदल जाती है। तब हमें सावधान रहने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती, एक यन्त्र की तरह हम 'परचालित' हो जाते हैं—A human Robot. आप यहाँ सुबह से रात तक की अपनी क्रियाओं का निरीक्षण करके देख लें, कि कितनी क्रियाएँ यन्त्र की तरह चलती हैं। और पल-दो-पल भी कोई स्वायत्त कार्य होता है या नहीं ? आज के मनुष्य को जो तनिक भी रुचिकर नहीं, किन्तु जो तथ्य विज्ञान बारम्बार सामने ला रहा है वह यह है कि मस्तिष्क की व बुद्धि की सभी क्रियायें यान्त्रिक हैं।

आदतों को दोहराना जीना नहीं है मित्रो ! उसमें निर्जीवता है, अचेतनता है। मूर्च्छा में जैसे आदमी सारी ज़िन्दगी काट देता है—दूसरों के अनुभवों को दोहराते-दोहराते, दूसरों के मूल्यांकनों को अपने ऊपर थोपते-थोपते ज़िन्दगी निकल जाती है।

Trying to approximate one's action and relationships, trying to confirm some patterns, one gives up his whole life.

वे जीवन के अनुभव किन्हीं महावीर, बुद्ध, ईसा के हैं, कबीर-तुलसी-मीरा के हों, या रामकृष्ण, रमण, जे० कृष्णमूर्ति के हों—कोई फ़र्क नहीं पड़ता, शब्दों को, विचारों को पकड़ लिया; उनकी बाह्य अभिव्यक्तियों या भौतिक जीवनशैली को पकड़ लिया और उसकी नक़ल करने लगे। जीवन सर्वोपरि है, परम पवित्र है; दूसरों के अनुभव अपने पर थोपने से आप जीवन का अनादर करते हैं। अनुकरण-अनुसरण में जीवन की स्वायत्तता नहीं है, जीवन का ओज-तेज नहीं है। शरीर-मन-बुद्धि-वाणी से बने-बनाये दूसरों के नमूने दोहराते रहने से यन्त्रमानव की-सी हालत होती है, फिर जीवन में आनन्द कहाँ से आए ? मज़ा व लुत्फ़ कैसे आए ?

आप कहेंगे कि क्या विचार का, ज्ञान का कोई महत्त्व नहीं है ? ऐसा नहीं; विचार न किया होता, भाषा न बनी होती तो आपके साथ

यह शाब्दिक संवाद कैसे हो पाता ? जैसे पदार्थ का महत्त्व है, इन्द्रियों द्वारा विषयसेवन का महत्त्व है, वैसे बुद्धि द्वारा चिन्तन एवं विचार का भी महत्त्व है, अध्ययन का भी महत्त्व है । लेकिन वह अध्ययन किसलिए हो ? ग्रन्थों द्वारा, सत्संग द्वारा स्वाध्याय किस लिये ? केवल जानकारी या शाब्दिक ज्ञान का संग्रह कर रखने के लिए नहीं, बल्कि समझने के लिए । (Not for verbal knowledge, but for understanding.) ज्ञान संगृहीत करना पड़ता है, समझ का संग्रह नहीं होता । समझ तो आप का सत्त्व बन जाती है, वह परिग्रह की वस्तु नहीं । भोजन लेते हैं तो उसका रस आप का जीवनरस बनता है, यदि अच्छी तरह भोजन पाने की कला आ गयी हो तो । जल्दी-जल्दी कौर निगलते जाना तो भोजन करना न हुआ । पेट कोई रद्दी काग़ज़ों की टोकरी तो नहीं कि उसमें आहार फेंकते रहें । भोजन एक पवित्र यज्ञकर्म है । वैसे यदि यज्ञभावना से भलीभाँति भोजन किया हो तो वह आपका सत्त्व बनेगा । संग्रह किया हुआ भोजन तो रोग पैदा करेगा और सत्त्व बना तो आयु-ओज-तेज बढ़ेगा ।

इसी प्रकार ज्ञान का संग्रह अहङ्कार बढ़ाता है, उद्दण्डता पैदा करता है । लेकिन शब्दों का सम्यक् श्रवण करते हुए, अर्थग्रहण करते हुए शब्दों को भलीभाँति चबाया-चूसा हो तो उस से समझ पनपेगी । The blossoming of understanding will be the substance of your being.

वह शब्द फिर अन्य किसी का नहीं रह गया । वह वेद-उपनिषदों का नहीं, धम्मपद का नहीं, क़ुराने शरीफ़ का नहीं, ज़ेन्द अवस्ता का नहीं— वह आपका सत्त्व बन गया । क्योंकि आप ब्रह्माण्ड की अनुकृति हैं ।

मित्रो ! ज्ञान के संग्रह का सम्बन्ध बुद्धि से है, और समझ का सम्बन्ध प्रज्ञा से है । सत्सङ्ग-स्वाध्याय किया जाता है समझने की कोशिश के लिये । समझ में परिणत ज्ञान जीवन का सत्त्व बनता है, वह जीवन-परिवर्तन करता है । समझ में स्वास्थ्य है, संग्रह में नहीं । लेकिन अधिक-तर सत्सङ्ग-शिबिर में लोग जाते हैं कुछ अपना ढाँचा एवं भिक्षापात्र लेकर, अपनी महत्त्वाकांक्षा और कुछ प्राप्त करने, परिग्रह का खजाना बढ़ाने की इच्छा से, कि "वहाँ 'ध्यान-समाधि' लगाना सीख आयेंगे,

कुण्डलिनी जागृत होगी, फिर अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ-सिद्धियाँ प्राप्त होंगी।"—जो प्राप्त करने के लिए निकला हो उसमें समझने का धैर्य कहाँ ?

जैसे आज मनुष्य को मुफ़्त की कमाई (easy money, unearned income) चाहिये, वैसे बिन-कमाई (अनर्जित) सिद्धियाँ भी चाहियें। कोई सिर पर हाथ रख दे, शक्तिपात कर दे, और आपका जीवन-परिवर्तन हो जाय—यह अनर्जित कमाई की कामना नहीं तो क्या है ? उस तरह कोई अनुभूतियाँ आ भी गयीं तो वह जूठन हैं; उधार का माल है। वह आप का सत्त्व नहीं।

अध्यात्म में उधार और संग्रहखोरी का चलन नहीं। यहाँ मुनाफ़ाखोरी भी नहीं चलती। सत्सङ्ग में, स्वाध्याय में, ग्रन्थों में—प्रवचनों में सन्तकथाओं में शब्दों के साथ आपका सम्बन्ध आता है समझने-सीखने की वृत्ति से, (It is the act of learning, which results in growth, not the activity of acquiring or holding together.) संग्रह-मात्र से विकास नहीं होता, समृद्धि नहीं आती जीवन में। पुस्तकों को रटने वाले तोते न जाते हैं, क्रियाओं को दोहराने वाले यन्त्रमानव (Robots) बन जाते हैं। आज धर्म और अध्यात्म के नाम पर यह सब चलता है।

यदि इस देश में सच्चे आध्यात्मिक व्यक्ति दस भी होते तो आज जो देश की हालत है वह न होने पाती। क्योंकि सत्य जीने वाला व्यक्ति असत्य के लिये खतरा बन जाता है।

शब्दज्ञान की, विचारों की उपयोगिता भौतिक जीवन में अवश्य है। समाज में रहना है, आजीविका चलानी है, सब व्यवहार करने हैं। इसके लिये विभिन्न जानकारियाँ एवं ज्ञान होना आवश्यक है। विज्ञान-यन्त्रविज्ञान का उपयोग करने के लिये बुद्धि को तीक्ष्ण बनाना पड़ता है। लेकिन अध्यात्म के लिये, जीवन के चरम सत्य को समझने के लिये बौद्धिक-यान्त्रिक क्रिया असंगत है।

(The movement of intellect, the cereabral activity is totally irrelevant in the discovery of the Ultimate Reality.)

विचार करना, प्रतिक्रिया करना, मूल्यांकन करना (the activity & process of naming, identifying evaluating, comparing, judging etc.)

इन सब बौद्धिक क्रियाओं को शान्त होने देना होता है। जैसे यहाँ बैठे हैं तब शरीर को शान्त रहने देते हैं, अनावश्यक हलचल नहीं करते; यों आप के पाँव दौड़ भी सकते हैं, हाथ बहुत सारे काम कर सकते हैं, लेकिन आप बहुत सारी गतियों को भीतर समेटे हुए यहाँ शान्त बैठे हैं। ध्यान क्या है ?—यह समझने के लिये सब बौद्धिक क्रियाओं को शान्त होने देना पड़ता है।

यदि मन में यही कुतूहल या जानने की इच्छा लिये रहेंगे—अधीरता होगी तुलना की कि "यह वेदान्त की बात है ? या पातञ्जल योग जैसी बात है ? यह रामकृष्ण परमहंस जैसी बात है या रमण महर्षि अथवा कृष्णमूर्त्ति—जैसी बात है ?—" तो इन मूल्याङ्कनों में ही पड़े रहेंगे, जो कहा जा रहा है उसे समझना न हो सकेगा। अर्थग्रहण छूट जायेगा। मैं किसी दावे के साथ तो आप के बीच नहीं आई हूँ, किन्हीं सन्तों—अनुभवियों—विशिष्ट व्यक्तियों की तुलना में स्वयं को बैठाये जाने के लिये तो नहीं आई हूँ। एक मित्र के नाते, अपना देखा बाँट लेने आई हूँ। इसी रूप में एक मुद्दे पर जोर दे रही हूँ कि—यान्त्रिक क्रियाओं का पुनरावर्तन ही जीवन का सत्त्व नहीं है यह हम समझ लें। सारी की सारी बौद्धिक-मानसिक क्रियायें यान्त्रिक हैं इस सत्य को देख लें। जो संस्कारों से मुक्त मानसिक क्रिया है, वह यान्त्रिक है, संस्कार शुभ हों या अशुभ हों।

इस सबको समेटकर बैठना है। यानी हम कुछ पाने के लिये नहीं बैठे हैं, कुछ देखने के लिये भी नहीं। समस्त क्रियाओं को शान्त होने का अवसर देने के लिये बैठे हैं। सौ दो सौ व्यक्ति एक साथ यदि स्वेच्छा से मन-बुद्धि की क्रियाओं को शान्त होने का अवसर देने के लिये बैठेंगे—तो एक शक्ति पैदा होगी।

ध्यान सीखने की विद्या नहीं है, ध्यान मन-बुद्धि-शरीर की किसी क्रिया-प्रक्रिया का नाम नहीं है। आध्यात्मिक जीवनपद्धति का सौरभ है ध्यान ! यह एक अवस्था है। नाद में से जन्मे हुए शब्द का किनारा छोड़

देंगे; नाद का सत्त्व रहेगा; मनुष्य-कृत शब्दसृष्टि और भाषायें छूट जायेंगी; विचार वेद-उपनिषद् का हो या आधुनिक सरणी का चिन्तन हो, सब छूट जायेगा। यदि इन सब क्रियाओं-गतियों को शान्त होने देते हैं तो नाद जहाँ विश्रान्ति लेता है उस मौन-अवस्था से हमारा सम्पर्क आयेगा।

आप कहेंगे—"यह अवसर देने पर भी, शान्त बैठ रहने पर भी विचार तो चलते ही हैं; कुछ सोचने या विचार करने नहीं बैठे हैं फिर भी ये चलते है"—तो उन्हें चलने दीजिये, आप उनके साथ मत चलिये। विचार चलते हैं—यह समझ में आया न! जो देखता है कि विचार चल रहे हैं, वह केवल देखता ही रहे; वह उसका कर्तृत्व अपने ऊपर न ले, उसका भोक्ता न बने। विचार क्यों चलते हैं? नाड़ीतन्त्र में भरी हुई गति है जो आप शान्त बैठें तब सामने आने लगती है। वह दिखती है, आपकी चेतना जागृत है, देखते रहिये। अपने भीतर भरी गतियों के साथ, अपने तथा मनुष्यजाति के भूतकाल के साथ एक नया सम्बन्ध स्थापित होने दीजिये—केवल देखने का। देखने बैठे नहीं हैं, लेकिन दिखता है तो देखते रहिये। उसे उपाधि या संकट न मानिये, उससे कैसे छुटकारा मिले—यह प्रश्न मत पैदा कीजिये। क्योंकि वह तो आप ही हैं। आप दर्पण के सामने बैठे हों, जैसे आप हैं वैसे दिख रहे हों, तो यह सवाल नहीं पैदा करते कि रंग साँवला क्यों दिखता है? उजला क्यों नहीं दिखता? अपनी त्वचा के रंग को या आकृति के बनाव को तो आप बदल नहीं सकते। जो जैसा है वैसा ही दिखेगा। इसी तरह आपका जो अन्तरङ्ग है—संगृहीत ज्ञान, संगृहीत प्रतिक्रियायें, संगृहीत मूल्य आदि का जो खजाना भरा पड़ा है, वह सामने आता है, तो बस उसे देखते भर रहिये। उसके साथ देखने भर का सम्बन्ध है। उसे छूना नहीं है।

उसे आपने संकट या सवाल बना लिया, मुसीबत या उपाधि मान लिया तो यह सोचने लगेंगे कि विचारों को कैसे रोकूँ? कैसे दबाऊँ?···· यह नहीं करना है। फिर तो आप बुद्धि की क्रिया में पड़े रहेंगे। You will be in the cerebral orbit, identifying yourself with the momentum of the brain. ऐसे उसका शिकार नहीं बनना है। अतः पहली बात यह होगी कि केवल देखने का, निरुपाधिक देखने का सम्बन्ध

बनेगा। यहाँ मूल्याङ्कन है ही नहीं; इसीलिये प्रतिक्रिया भी नहीं। इसे कहते हैं अवलोकन की अवस्था (state of observation.) इतना तो विकसित होने दीजिये।

यह है निरुपाधिक द्रष्टृत्व; साक्षीभाव नहीं। साक्षित्व भी एक भाव है, एक वृत्ति है। वृत्ति है वहाँ तक स्पन्दन है। अपनी यात्रा है स्पन्द से निस्पन्द की तरफ़; शब्द से नाद की तरफ़, नाद से मौन की तरफ़ और गति से स्थिति की तरफ़। ध्यानावस्था को समझना चाहते है न! ध्यानावस्था में क्या घटित होता है? क्या उद्घाटित होता है—यह देखना है।

देखने के लिये साहस चाहिये यान्त्रिकता को छोड़ने का। मिथ्या को छोड़ने का साहस ही आपको सत्य में प्रतिष्ठित कर देता है। सत्य में प्रतिष्ठित होना कठिन नहीं है मित्रो! पर जब मालूम हुआ कि यह असत्य है, मिथ्या है, तभी उसे छोड़ देने का साहस नहीं होता है; भीरुता में पड़ा है मनुष्य। संसार में जैसे भीरुता-कायरता सब प्रकार की मुसीबतों को बुलावा देती है, वैसे अध्यात्म में भी भीरुता ही सब अन्तरायों को आमन्त्रण देती है। मेरे देखे सब पापों का मूल है भीरुता। यह या तो आक्रामक बनती है या पाखण्डी बनाती है। इस भीरुता के मारे घर-द्वार छोड़ जायेंगे, समाज को छोड़ देंगे, प्राप्त जीवन से मुँह मोड़ लेंगे। भीरुता ने ही पलायनवाद का एक शास्त्र निर्माण किया है। एक तरफ़ आक्रमण का शास्त्र, दूसरी तरफ़ पलायन का शास्त्र बनाया है। भीरुता और पाखण्ड हमेशा हाथ में हाथ मिलाये साथ चलते हैं। ध्यान का अभिनय, भक्ति का अभिनय कर लेंगे दो घण्टे, जैसे कोई नाटक में राम का, कृष्ण का, सीता या राधा का अभिनय कर ले; अरे जीने का भी अभिनय करते रहते हैं।

इस मिथ्या को, पाखण्ड को छोड़ने का साहस कर पायें तभी अध्यात्म की दहलीज पर आना हो सकता है। तब शुद्ध देखने भर का सम्बन्ध बन पायेगा, अन्दर-बाहर जो भी सामने आये उसके साथ। जब आपकी ओर से कोई अभिक्रम (initiative) नहीं है दिखने वाली वस्तु—विषय-घटना-व्यक्ति आदि के प्रति, उसे रोकने-पकड़ने दबाने-कुचलने-छिपाने का किसी भी तरह का कोई अभिक्रम नहीं है, तब

दिखने की गति धीमी पड़ती है। शब्द शान्त होता है; विचारों के स्पन्दन शान्त होते हैं। तब जीवन की सत्ता का आवरण-रूप जो मौन या शून्य का आयाम है वह प्रकट होता है।

आत्मा की पहली अभिव्यक्ति है आकाश। (आत्मनः आकाशः सम्भूतः) The emptiness is the first explosion of the isness of life. उस अभिव्यक्ति को मैं आवरण कह रही हूँ।

हम स्थूल पृथ्वीतत्त्व से चलें—इन्द्रियों की पकड़ में आने वाले पदार्थों को देखते-देखते, इन स्थूल गतियों को समेटते हुए सूक्ष्म विषय विचारों को देखने तक पहुँचे। विचार शब्दमय होते हैं। शब्द आकाश का गुण है। वहाँ देखना-मात्र स्थिर हुआ तो यह शब्द-गति भी शान्त होने लगती है; 'दिखना' शान्त होता है; तब रह जाता है केवल आकाश, अवकाश। जहाँ चेतना संस्कारों से मुक्त है (Consciousness unpolluted by verbalisation) जहाँ शब्द है ही नहीं। जहाँ संस्कार पहुँच ही नहीं पाये। किसी ने कभी प्रेम को संस्कार में बाँधा है क्या? सौन्दर्य को संस्कार में बाँध पाये हैं? शान्ति के लिये कोई ढाँचा बनाया जा सका है? हमारे भीतर चेतना है, विशुद्ध सुषुप्ति में जिसकी छाया अनुभूत होती है।....तो, हम आकाश तक पहुँचे हैं जहाँ शब्द नहीं है, नाद का कोई स्पन्द नहीं है। इसे कहते हैं मौन में पहुँच जाना।

यहाँ करना कुछ नहीं है। यही मुश्किल लगता है मनुष्य को, क्योंकि हमेशा कुछ न कुछ करते रहने की आदत पड़ी है। संसार के लिये तो करना ही है, अध्यात्म-साधना के नाम पर भी—"जप करो, तपस्या करो, कुण्डलिनी जगाओ, चक्रभेदन करो, प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा करो, वृत्तिनिरोध करो, या विशिष्ट प्रकार की वृत्ति धारण करो! विशिष्ट वेश, विशिष्ट जीवन शैली अपनाओ!" दौड़-दौड़ कर सब करेंगे। इसमें अहङ्कार की अनुकूलता है, क्योंकि वह करेगा, फिर उसका परिणाम देखेगा, 'मुझे यह मिला' ऐसा कह सकेगा, उसे भोग सकेगा। किन्तु मौन पथ में तो सब 'करना' थम जायेगा। यहाँ तो अपने आपको, अपनी खुदी को घोल देना है, उस आकाश में।

यह मौन, शून्य एक आयाम है जीवन का (a dimension of life) जैसे समय (Time) को एक आयाम माना गया है। शून्य भावरूप

है, उसकी सत्ता है। वह रिक्तता नहीं, अभाव-रूप नहीं। उस शून्य या मौन के आयाम में खड़े होते हैं तो आप को रिक्तता प्रतीत होती है क्योंकि वहाँ कोई विचार या पदार्थ नहीं। यह शब्दमुक्ति आपको रिक्तता लगती है। लेकिन वास्तव में वह अभावात्मक नहीं। मनुष्य जाति ने जहाँ कोई संस्कार नहीं किये हैं—ऐसी ऊर्जाओं का भण्डार है वहाँ। (Innumerable energies un-explored & untangled by human race, you can see contained in that emptiness).

आज के पदार्थविज्ञानवेत्ता (Physicists) क्या कर रहे हैं ? They are terriblly busy exploring the energies contained in emptiness. शून्य में निहित ऊर्जाओं का आविष्कार करने में जी-जान से लगे हुए हैं। क्योंकि उन्होंने देख लिया है कि ऊर्जाओं के पीछे शून्य अवकाश है। 'मौरिस निकॉब' की एक पुस्तक अभी हाल ही में प्रकाशित हुई है, उसमें उन्होंने कहा है "Universe is nothing but an explosion of emptiness. Emptiness is the source of creation" (शून्य अवकाश का ही प्रकट आविष्कार या उद्‌भव है विश्व। शून्यता ही समस्त सृष्टि का उपादान है, स्रोत है।) बहुत आश्चर्य हुआ यह पढ़ कर; लगा कि यह व्यक्ति वेदान्त की बात करता है या भौतिकविज्ञान की ? कहता है कि यह सृष्टि शून्य का स्फोट है, शून्य का विस्तार है।

मित्रो, ऐच्छिक-अनैच्छिक गतियों को छोड़ कर, यानी उनके साथ तदात्मता का भाव छोड़ कर यदि हम आगे बढ़ते हैं, मौन में पहुँच पाते हैं; तो एक समग्र-देह-व्यापी शून्य है, आकाश है, अवकाश है; वह अनन्त ऊर्जाओं से भरा हुआ एक आयाम है। (The emptiness is filled with energies.) वे शारीरिक व मानसिक-बौद्धिक (biological, psychological, cerebral) ऊर्जायें नहीं हैं। न वह ऊर्जा पदार्थों के घर्षण में से उत्पन्न होती है, न पदार्थों की पकड़ में आती है।

शून्य में निहित उन ऊर्जाओं की आज मनुष्य-जाति को आवश्यकता है। विचार-विकार के नाम से जो शरीरगत ऊर्जायें, बुद्धिगत ऊर्जायें, ज्ञान-अनुभूति की ऊर्जाये हैं उनका उपयोग हम करते आये हैं। फिर भी हम अपने सम्बन्धों में संवाद पैदा नहीं कर पाये; सख्यसहयोग से जीना नहीं सीख पाये। सहजीवन की कला आज भी हम में नहीं है। हम

जो-जो करने गये, उसने हमें विभाजित किया, विचारों ने, धर्म ने मनुष्य को मनुष्य से अलग किया; Thoughts have divided us, religion has divided us. छोटे-छोटे घोंसले बनाते गए, उन कारागारों में अपने आप को कैद करते चले गये। उस कैद में ही मुक्ति का अभिनय करते गये।

साहस चाहिये शब्द का किनारा और बुद्धि का आधार छोड़ने के लिये। सत्य को एक बार समझ लं, अपनी समग्रता को उस सत्ता के रस में भिगो लें तो फिर जो व्यवहार होगा उसमें वस्तुतः जीवन का सौरभ होगा; सम्बन्ध-व्यवहार सब चलेंगे लेकिन उनमें व्यक्त होने वाली हस्ती बदल जायेगी। उसकी दृष्टि एवं वृत्ति बदल जायेगी। एक नया मानव जीने लगेगा जो वस्तुतः मानव-समाज बनायेगा। भयमुक्त-शोषण-मुक्त-हिंसामुक्त समाज बनने के लिये नये मानव की आवश्यकता है। नया मानव बनेगा कैसे ? भीतर निहित ऊर्जा में अखण्ड अजस्र जीवन-स्रोत में—आत्म-सत्ता में प्रतिष्ठित होने से नया मानव बनेगा फिर इन्हीं मन-बुद्धि-इन्द्रिय और विषयों के साथ मनुष्य का सम्बन्ध बदल जायेगा एवं व्यवहाररीति बदल जायेगी।

Transformation in the quality of behaviour & Transformation in the nature of human relationship.

यही दोनों मूलभूत समस्यायें हैं। ध्यान के मार्ग से इन समस्याओं के हल होने की सम्भावना दिखाई देती है, क्योंकि उनको हल होते यहाँ देखा गया है। एक व्यक्ति के भीतर जो घटित हो सका, वह प्रत्येक मानव में घटित हो ही सकता है, क्योंकि सम्पूर्ण मानवजाति में उसकी सम्भावना व शक्ति (Potential) पड़ी हुई है। इसलिये इस आन्तरिक क्रान्ति की बात आपके पास रखने आये हैं।

ध्यान है आन्तरिक क्रान्ति का मार्ग, समग्र जीवन को देखने की एक नई दृष्टि, जीवन जीने की नई पद्धति एवं शैली, मानवीय सम्बन्धों को नया आधार देने का साहस।—यह न होता तो आपको इतनी दूर-दूर से बुला कर आपके अपने-अपने कार्यों धन्धों-समस्याओं में से पाँच दिन अलग निकाल कर यहाँ आने का कष्ट न दिया जाता।

आप कहेंगे कि "बहन ! आज के इतने गिरे हुए, भटके-बहके हुए समाज में लोग यह सब करेंगे ? ऐसा जीवन जीयेंगे ?"—इस पर कहना है कि क्यों नहीं ? मैं भी तो इसी समाज में इसी काल में जी रही हूँ ? एक सर्वथा मध्यम वर्ग के परिवार में मेरा जन्म हुआ। अनेकों कठिन परिस्थितियों में से जीवन गुज़रता आया। समस्याओं से जूझना आज भी चालू है। घोर जनसम्पर्क में रहना आज भी चालू है।

यदि आत्मसत्ता में प्रतिष्ठित रहते हुए, उस सत्ता के रस में भीगा चित्त और बुद्धि लिये यहाँ जीया जा सकता है, तो क्यों मैं न मानूं कि भारत में ऐसे मुट्ठी भर व्यक्ति निकलेंगे जो ज्ञान व ज्ञात के किनारे छोड़कर अज्ञात की (संस्कार मुक्त चेतना की) यात्रा पर निकल पड़ेंगे ? शब्द का किनारा छोड़ना, ज्ञान व ज्ञात का अवलम्बन छोड़ना ही अज्ञात की यात्रा है। ढाँचों और लकीरों को छोड़ना ही स्वाधीनता की यात्रा है। उस यात्रा पर निकलने की प्रेरणा मुझे हुई तो आपको क्यों नहीं हो सकेगी ? वह होगी—इस श्रद्धा से यह शब्दव्यापार (प्रवचन) करने का मैं साहस करती हूँ।

आज अभी इससे अधिक कहने की आवश्यकता नहीं, औचित्य भी नहीं, अतः यहीं इस वाङ्मयी पूजा को समेट कर सबसे आज्ञा चाहती हूँ।

●

- अज्ञात की सुन्दरता ही इसमें है कि उसमें अज्ञात भवितव्यता है, विश्वसनीयता का अभाव है। जीने का मजा ही इसमें है कि उसमें अनिश्चितता है।
- किसने कहा कि अज्ञात में भय है ? जीवन तो वह है जो निर्भय साहस से खड़ा होता है। अज्ञात में ही तो जीवन का 'रोमांस' है।
- अज्ञात से भय खाने वाले जीवन को तोता बना कर सोने के पिंजड़े में बन्द करके उसे मोती का चारा चुगाने जाते हैं। उनके हाथ में पिंजड़े रह जाते हैं, जीवन निकल जाता है।
- अज्ञात के साथ भय को जोड़ने वालों ने जीवन के साथ बड़ा अन्याय किया है। नित्यनूतनता की शक्ति केवल अज्ञात में है, ज्ञात में नहीं।

प्रश्नोत्तरी

वि० १५-२-८९ सायं ५ बजे

[प्रश्नों के साथ किसी ने एक चिट्ठी दी है कि आज का प्रवचन समझने में मुश्किल लगा। क्या किया जाय ? आप ध्यानशिबिर में आये हैं। ध्यान शब्द पारिभाषिक है। पूरे योगशास्त्र का सार ध्यान शब्द में आ जाता है। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—चित्त की सभी वृत्तियाँ निःशेष हो जाँय—ऐसी दशा ही योग का सार है, वही ध्यान का मर्म है। इसलिये मैं चाहे जितनी भाषा सरल करूँ, किन्तु यदि अध्यात्म-विषय का कुछ अध्ययन-चिन्तन-मनन न किया हो तो मुझे भय है कि मेरी बातें आपको मुश्किल लगेंगी। इसमें हम और आप निरुपाय हैं। जैसे पदार्थ-विज्ञान (Physics) है, या अणुविज्ञान है, या मनोविज्ञान है, तो इनके बारे में कोई शिबिर या परिसंवाद रखा जाय, तो वहाँ जो बातें कही जायेंगी वे उस-उस विज्ञान की पारिभाषिक शब्दावली में ही रखनी पड़ेंगी न ! वैसे ही "आत्मजिज्ञासा" "ब्रह्मजिज्ञासा" के बाद, पूरे अध्ययन-मनन के बाद इस विषय में गति होती है। लेकिन फिर भी यदि आप धीरज से सुन लेंगे तो मुझे लगता है कि आपका कोई नुकसान नहीं होगा।]

प्रश्न—ध्यान में चित्त की एकाग्रता का क्या महत्त्व है ?

उत्तर—एकाग्रता का अर्थ है किसी एक वस्तु पर, चित्र पर, व्यक्ति पर, मन्त्र पर, ध्वनि पर या विषय पर चित्त को स्थिर कर देना। 'एकाग्र' 'अनेकाग्र' 'सर्वाग्र' दशायें होती हैं चित्त की। किसी एक विषय पर अपनी सारी शक्ति समग्रता से स्थिर कर देंगे—तब एकाग्रता होगी। यानी, वहाँ चित्त किसी न किसी एक विषय के साथ जुड़ा हुआ है, वह विषय कोई पदार्थ हो, या व्यक्ति हो, या मन्त्र अथवा ध्वनि हो। इसके विपरीत—ध्यान है चित्त की निर्विषय अवस्था। इसलिये उसके साथ चित्त के एकाग्र-अनेकाग्र होने का कोई सम्बन्ध नहीं आता। एकाग्रता का महत्त्व है—धारणा में। धारणा (Concentration) की एक प्रक्रिया

है, जिससे चित्त में धृति, धैर्य, सहनक्षमता, तितिक्षा आदि का विकास होता है, बुद्धि का तेज बढ़ता है। धारणा के अभ्यास के लिये एकाग्रता अनिवार्य है, और ध्यान के लिये वह असंगत है, क्योंकि उसमें चित्त की एक क्रिया है, आप संकल्पपूर्वक चित्त को एक दिशा में ले जाते हैं, फिर वहाँ वह स्थिर रहे इसके उपाय करते हैं। इस तरह वहाँ चित्त की कोई न कोई गति एवं क्रिया रहती है। धारणा का अभ्यास अनेकों उपायों से किया जाता है—दृष्टि और रूप के द्वारा, श्रुति और शब्द के द्वारा, नाद व जप के द्वारा, विविध प्रक्रियाओं द्वारा एकाग्रता की जाती है। अतः उसका धारणा के अभ्यास में विशेष महत्त्व है।

ध्यान कोई क्रिया नहीं, न शरीर की, न चित्त की, न बुद्धि की। वह चेतना की, आपके समग्र अस्तित्व की एक अवस्था है। (A state of Consciousness & therefore a state of your whole being.)

इसलिये किसी भी क्रिया का उसमें न महत्त्व है, न गौणत्व है; क्रियामात्र उसके लिये असंगत है। भजन-पूजन-आराधना, जप-एकाग्रता-अनेकाग्रता-सर्वाग्रता इत्यादि सब अपने-अपने क्षेत्र में महत्त्व की प्रक्रियायें हैं; किन्तु ध्यान से इनका कोई सरोकार नहीं। चित्त को विषयों से जुड़ते रहने का अभ्यास (आदत) है। उसी में उसकी रुचि है, इसीलिये विषय के साथ जुड़ जाने से उसे रस आता है। ध्यान है निर्विषय अवस्था; ध्यान है शून्याकार हो जाना। इसलिये एकाग्रता का ध्यान से सम्बन्ध नहीं।

समझने की बात यही है कि ध्यान और धारणा में अन्तर है। धारणा एक मानसिक क्रिया है। उसमें दिशा है, गति है; उसका लक्ष्य है, परिणाम है। उससे सिद्धियाँ प्रकट होती हैं। उससे शक्तियों का विकास है। उससे अनुभूतियों के द्वार खुलते हैं, यह सब धारणा के अभ्यास से होता है। इस धारणा के अभ्यास की भारतीय साधना-शास्त्रों एवं योग की विभिन्न पद्धतियों, शाखा-उपशाखाओं में विविध प्रक्रियायें हैं। पर ध्यान से उसे न जोड़ें।

प्रश्न—साक्षीभाव और द्रष्टृत्व के बीच क्या फर्क है? साक्षीभाव भी बन्धनकारक है?

उत्तर—हाँ भाई, भाव-मात्र बन्धनकारक है। कहा गया—'भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि"। साक्षीभाव यानो "मैं साक्षी हूँ। मैं यह देख रहा हूँ।' इसमें 'मैं' कुछ क्रिया नहीं करता, दखल नहीं देता, पर मैं हूँ अवश्य ! (I remain as a witness) मैं साक्षीभाव को धारण करता हूँ। जैसे कर्ताभाव है कि "मैं यह कर्म कर रहा हूँ।" "मैं इसका उपभोग ले रहा हूँ; इस विषय से मुझे सुख या दुःख हुआ है"—यह भोक्ताभाव हुआ न ! वैसे "मैं इसका साक्षी हूँ। उपस्थित हूँ, देख रहा हूँ, सामने जो होता है उसको, और उसके अपने ऊपर होने वाले परिणाम को भी !" लेकिन "मैं देख रहा हूँ।"—यह हुआ साक्षीभाव। इसके केन्द्र में अहं है, और भाव की धारणा भी 'अहं' करता है।

सुबह एक शब्द का प्रयोग हुआ था—द्रष्टृत्व, आप देखने के लिये नहीं बैठे हैं, दिखता है इसलिये देखा जाता है। आप देख नहीं रहे हैं; देखने के कर्ता आप नहीं हैं। आप तो बैठे हैं अकर्मावस्था-मौनावस्था में जाने के लिये। लेकिन ज्यों ही आप बाहरी क्रियायें समेट कर बैठ गये, त्यों ही भीतर जो बुद्धि-चित्त-इन्द्रियों का उपादान पड़ा है वह संस्काररशि विचारों के रूप में सामने आने लगता है। जैसे मिट्टी या धातु से घड़ा बना, वैसे संस्कारों से ही मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार बने हैं; वे सस्कार विचारों के प्रवाह के रूप में प्रकट होते हैं। अन्य समय वे अवसर न पाने से छिपे रहते हैं, अब दिखने लगे। किस को दिखे ? आत्मसत्ता को, प्रज्ञा की ऊर्जा (energy of intelligence) को दिखने लगा। संस्कारमुक्त संवेदनशीलता ही प्रज्ञा है। उसके द्वारा देखा जाता है। वहाँ देखने वाला 'अहं' नहीं, संकल्पयुक्त हेतुप्रेरित देखने की क्रिया नहीं। द्रष्टृत्व आत्मा का स्वभाव है। संवेदनशील ऊर्जा में द्रष्टृत्व भरा है। It is a perceptive sensitivity. प्रत्यक्षीकरण (perception) उसकी क्रिया नहीं, धर्म है, शील है, स्वभाव है। दिखना संवेदनशीलता की ऊर्जा में समाया है।

साक्षित्व और द्रष्टृत्व इन शब्दों के अर्थ की छटा साक्षीभाव और द्रष्टाभाव से कुछ भिन्न है। देखने में अलिप्तता-मध्यस्थता या तटस्थता का भाव मिला दीजिये तो द्रष्टाभाव-साक्षीभाव बन जाता है। द्रष्टृत्व

हठयोग के आसन-प्राणायाम करना नहीं है कि शिक्षक ने जैसा बताया वैसा किया। वह तो शास्त्र है, शासन की बात है।

यहाँ तो जीवन को, सत्य को स्पर्श करने की, उससे प्रक्षालित होने की बात है। इसलिए यहाँ अनुकरण-अनुसरण को स्थान ही नहीं है। No imitation, no aproximation of the movement of your life, according to someone else, or someone else's experiences. अनुकरण-अनुसरण तो क्रमिक आत्महनन हैं, इसमें अपने होनेपन का, अपनी सत्ता का, विकास नहीं होता। आपको और मुझको "राम" "कृष्ण" "सीता"-'द्रौपदी'-'राधा" नहीं बनना है, परमहंस रामकृष्ण या रमण या J. K. नहीं बनना है। आप में जो सम्भावनायें, जो Potential है उसे व्यक्त होने देना है। यदि अणु-परमाणु में रेणु-कणों में दिव्यता व अमाप ऊर्जा भरी पड़ी है, तो हममें व आपमें भी वह परम ऊर्जा है ही। उसे प्रकट होने देना है; अपनी सम्भावनाओंको खिलने देना है। उसमें जीवन की सार्थकता है, किसी के जैसे बनने में नहीं। वह तो आत्मघात है।

यदि सचमुच बोध हुआ तो, शब्द में आप रुके नहीं, ज्ञान की जड़ता में फँसे नहीं, और ज्ञान में से आकलन फिर बोध जागृत हुआ, तो उस बोध में से आपको आचरण नहीं करना पड़ेगा; बोध आचरण करा लेगा। उसको आप रोक नहीं पायेंगे। वह बोध आपकी समग्रता में से आचरण करा लेगा; जैसे सत्य आचरण करा लेता है, प्रेम आचरण करा लेता है, वैसे ही बोध यानी आत्मबोध समुचित आचरण करा लेगा; आपको करना नहीं पड़ेगा।

मुश्किल यह है कि बोध तक जाकर भी, मिथ्या से तादात्म्य की हमारी आदत नहीं छूटती। मिथ्या से चित्त चिपक गया है। उससे होने वाले सुख-दुःख दोनों मीठे लगते हैं। इसलिए मिथ्या को छोड़ने का साहस नहीं होता।

The Truth itself is not difficult to come upon, or to come by, but it takes tremendous courage to let the false drop away from your life. आपके जीवन में असत्य व मिथ्या जब छूटने लगते हैं, तब आप उन्हें पकड़ कर रखना चाहते हैं, क्योंकि उसमें आप ने सुरक्षा का आरोप कर रखा है।

When truth begins to live in your being & through your being, you get terrified.

बोध स्वयं ही दशेन्द्रियों में से प्रवाहित होगा। आप उसे रोक नहीं पायेंगे। जैसे प्रेम को, करुणा को कोई रोक नहीं पाता है, वैसे बोध को रोकना भी असम्भव है।

प्रश्न—ध्यान के लिये बैठने पर नींद क्यों आती है ? उसे रोकने का कोई उपाय सुझायेंगी ?

उत्तर—'ध्यान' के समय न कह कर 'मौन' के समय कहिये। क्योंकि ध्यान तो एक अवस्था है। उसके लिये कोई समय निर्धारित नहीं होता है। ध्यान किया नहीं जाता, ध्यान के लिये बैठा नहीं जाता। ध्यान तो अन्तर्वाही प्रवाह जैसी अवस्था है जो जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति आदि सभी अवस्थाओं में भीतर सतत प्रवाहित रहती है। वह तो जीवन का आयाम बन गया, इसलिये समय का सवाल नहीं।

आप पूछना चाहते होंगे कि मौन के समय नींद क्यों आती है ? इसके अनेक कारण हो सकते हैं। एक कारण होता है कि आपको मौन में रस न हो, रुचि न हो; दूसरों की देखा-देखी बैठते हों कि "सब लोग बैठते हैं, जरूर इसमें कुछ सुख मिलता होगा। वह हम भी क्यों न लें ?" ऐसे अपने ऊपर जबर्दस्ती करके, अरुचि से बैठते हों तो तन्द्रा-मूर्च्छा-जड़ता आ सकती है। वह निद्रा नहीं, एक प्रकार की निष्क्रियता आ जाती है।

दूसरा कारण हो सकता है कि आपको अति-परिश्रम करना पड़ता हो, वह भी ऐसा जो आपको पसन्द नहीं। अरुचिकर वातावरण में, नापसन्द लोगों के बीच घण्टों-घण्टों बैठना और उनके साथ काम करना पड़ता हो। अतिशय काम परिस्थिति से प्राप्त है और आपका मन व शरीर सहन कर सके उससे ज्यादा परिश्रम करना पड़ता है। इन दोनों (अरुचिकर काम और अतिपरिश्रम) के कारण मनमें ऐसी बधिरता आ जाती है कि अनिवार्यता खड़ी हो तो काम करता है, लेकिन उससे स्थिर रहने को कहो तो बेचारा लुढ़क जाता है। Over exhausted nervous system & brain का यह परिणाम है। शान्ति से बैठे हों, आस-पास कोई कोलाहल न हो, मन पर कोई दबाव-तनाव न हो, तब

तन-मन-बुद्धि के अतिपरिश्रम का परिणाम तन्द्रा या जड़ता के रूप में प्रकट होता है।

तीसरा कारण है—पाचनक्रिया ठीक न होना। यदि आप पुरानी और बहुधा रहने वाली कब्जियत के शिकार हों, नियमित पेट साफ न होता हो; या पेचिश-दस्त-संग्रहणी (dysentery Diarrhoea Colitis) आदि के बीमार हों, तो जब आप शान्ति से बैठते हैं तब एक प्रकार की जड़ता घेर लेती है, आँखें भारी हो जाती हैं, तन्द्रा छा जाती है।

इस तरह –एक अतिपरिश्रम, दूसरा रुचि न होना, तीसरा पेट स्वस्थ न होना—इन कारणों से प्रायः तन्द्रा आती है। मौन में व ध्यानावस्था में रुचि तो कोई 'मनुष्याणां सहस्रेषु' किसी एक को ही होती है; क्योंकि उसमें कुछ मिलना नहीं, कर्ता-भोक्ता-भाव का सुख नहीं, द्रष्टा व साक्षीभाव तक छीन लिया जाता है, शून्य होकर जीने का सवाल है। You get reduced to nobodyness, nothingness. उसमें कोई मजा नहीं आता। हजारों में से किसी एक विरले को ही रुचि होती है शून्य में गोता लगाने की।

मौन के लिये बैठते समय तन्द्रा न आये, इसके लिये एक तो, जो तन्द्रा के कारण बताये गये, उनका निराकरण करना चाहिये; दूसरे, मौन के लिये तभी बैठें जब आपके तन-मनमें ताज़गी हो; थकी-माँदी हालत में हरगिज़ न बैठें। यदि ऐसे स्वस्थचित्त शान्त बैठने का मौका सप्ताह में दो-तीन बार ही मिलता हो तो वही सही; १०–१५ मिनट ही मिल पाते हों तो उतना ही सही। समय का बन्धन न रखें।

दूसरा एक तात्कालीन उपाय सुझाया जा सकता है कि मौन के लिये बैठने पर १०–१५ मिनिट बाद ही जब आपको लगने लगे कि तन्द्रा या जड़ता आ रही है तब आसन से उठ कर खड़े हो जाइये, थोड़ा-सा टहल लीजिये, हाथ-पाँव-मुँह ठण्डे पानी से धो लीजिये, फिर बैठिये। यदि आपको संगीत प्रिय है तो थोड़ा सुन लीजिये, फिर जाकर अपने आसन पर बैठिये। १०-१५-२० मिनिट ही सही, जितना आप अनायास बैठ सकें उतना ही मौन के लिये बैठिये। अपने ऊपर जबर्दस्ती न करें।

प्रश्न—भगवान् के दर्शन-साक्षात्कार के लिये जो ध्यान किया जाता है, वह ध्यान क्या है ?

उत्तर—अध्यात्म में उपासना को कोई स्थान नहीं है। उपासना का स्थान भक्तियोग में है। उसके लिये अध्यास का उपयोग किया जाता है। अध्यास एक वैज्ञानिक शब्द है। उसे चालू भाषा में 'आरोप' करना कहते हैं। इससे मैं भक्तिसाधना का महत्त्व नहीं घटा रही हूँ। लेकिन रास्ता अलग है। वहाँ परमात्मा की सर्वव्यापिनी सत्ता से भाव-सम्बन्ध बाँधा जाता है। प्रभु-भगवान् सब में ओत-प्रोत है, सर्वाकार-सर्वाधार-विश्वाकार है। वह किसी एक नाम-रूप-स्थान में सीमित नहीं। यह जानने पर भी रहा नहीं जाता उससे सम्बन्ध बाँधे बिना।

सर्वव्यापी के स्वरूप का अनुसन्धान 'सर्व' के साथ सम्पर्क आने पर रहता नहीं; श्वासोच्छ्वास लेते हुए, सभी कर्म करते हुए उस सर्वाधार की सर्व में ओत-प्रोत सत्ता का भान जाग्रत् नहीं रहता, सतत अनुसन्धान नहीं रहता। (अनुसन्धानात्मिका भक्ति सर्वश्रेष्ठ है।) फिर हमने युक्ति निकाली (हम सब ऋषियों-योगियों के वंशज हैं; उन हमारे पूर्वजों ने यह युक्त-प्रक्रिया निकाली) कि सर्वाकार-सर्वव्यापी का प्रतिनिधित्व करने वाली एक छोटी-सी मूर्ति बना लें, जो अव्यङ्ग हो, सौन्दर्य की समस्त मानवीय कल्पनाओं को उसमें उँड़ेल दें। इस तरह प्रतिमा बनायीं—मिट्टी की, पत्थर की, काष्ठ की, धातु की, रत्न-मणि की! उस प्रतिमा को फिर 'विग्रह' बनाया, उसमें 'प्राण-प्रतिष्ठा' की। मन्त्रों द्वारा प्रतिमा में 'देव' का आह्वान किया, प्राण-प्रतिष्ठा की; तब वह आराध्य विग्रह बन गया, जिसमें सर्वात्मक सर्वरूप का 'विशेष ग्रहण' हो सके। वह छोटा सा विग्रह सर्वव्यापी प्रभु का प्रतिनिधि बन गया। सर्वात्मक सर्वाकार एक छोटा-सा विग्रह बना लेने पर भी, चौबीसों घण्टे (अहर्निश) उसके पास बैठा नहीं जा सकता; इसलिये उसे जो नाम दिये उन नामों को ही जपते रहते हैं; उस रूप को आँखों में भर कर उसी का निदिध्यास बनाये रखते हैं। उपासना का रूप है निदिध्यासन।

उपासना के लिये हम ईश्वर के नाम-रूप का निर्माण करते हैं। प्रभु-परमात्मा स्वयम्भू हैं, लेकिन उपासना के लिये हमने निराकार-निर्गुण के सगुण-साकार प्रतिनिधि बनाये हैं। वह संकेत है। मनोविज्ञान में संकेत (symbol) का बड़ा महत्त्व है। (Symbology is a very well developed science, having a firm utility in the life of humanity.)

आप जो भगवान् के दर्शन चाहते हैं—सो आपके चित्त में भगवान् का जो रूप बस गया है उसके दर्शन पाना चाहते हैं; तो कीजिये निदिध्यासन। वे नाम-रूप श्रीराम हों, श्रीकृष्ण हों, शिव हों, विष्णु हों, दत्तात्रेय हों, देवी—महाकाली, महालक्ष्मी, महासरस्वती हों, बुद्ध हों, महावीर हों, या यीशु ख्रीस्त हों, उस नाम और रूप को पकड़ कर निदिध्यासन कीजिये, 'दर्शन' हो जायेंगे। कोई बड़ी बात नहीं है। क्योंकि वह सारा मनुष्य-निर्मित विश्व है। उसका अध्यात्म के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। लेकिन रूढ़ भाषा में कहा जाता है कि "हम देवी का या शिव का या विष्णु का ध्यान करते हैं।" शब्द के अनेक प्रकार के अर्थ होते हैं—वाच्यार्थ-लक्ष्यार्थ-ध्वनिगत अर्थ, सांकेतिक अर्थ आदि। फिर कुछ खास अर्थ में कोई शब्द-प्रयोग रूढ़ भी हो जाते हैं।

जैसे 'नानारत्ना वसुन्धरा' है, वैसे नानाभाववाहिनी अनन्तरस-निर्झरिणी शब्दसृष्टि है। उसे ब्रह्म कहा है। किन्तु ईश्वर के निदिध्यासन व उपासना के साथ इस 'ध्यान' शब्द को न जोड़ें। अध्यात्म में 'ध्यान' शब्द का वह वाच्यार्थ एवं रूढ़िगत अर्थ अभिप्रेत नहीं है। यहाँ तो ध्यान जीवन की एक समग्र अवस्था है जिसमें चौबीसों घण्टे जिया जाता है। जो आती-जाती या उतरती-चढ़ती नहीं।

प्रश्न—शान्ति तो मन की चीज़ है, उसे ध्यान से क्या लेना-देना ?

वि०—मन में, चित्त में, वृत्तियों के तरङ्ग उठते है। उस चित्त का निस्तरङ्ग हो जाना शान्ति है। A quiet mind is not a silent mind. जिस चित्त में प्रक्षोभ नहीं, जो विक्षिप्त नहीं, इस नाते शान्त है—वह भी मौन नहीं है, है वह चित्त ही। शान्ति एक आयाम है। चित्तवृत्तियों का निःशेष हो जाना, वृत्तिनिरोध हो रहना जो योगावस्था है, उसके साथ शान्ति शब्द का सम्बन्ध है। जहाँ सहज सन्तुलन है, (equipoise) अक्षोभ्य अवस्था है; याने कितनी भी क्षोभकारक परिस्थिति उत्पन्न हो, तो भी क्षोभ पैदा नहीं हो पाता—उसे कहते हैं शान्ति। यह नहीं कि पूजा में या मौनाभ्यास के लिये बैठे हैं तब शान्त हैं, इतने में कोई आया—कुछ बात की, कि क्षोभ हो गया क्रोध आया, ईर्ष्या उठी !

यदि चित्त में शान्ति नाम के आयाम का विकास हुआ हो, तो वहाँ क्षोभ नहीं आ सकता।

"मेरू रे डगे पण जेना मनड़ा डगे नहिं रे,
भले भाँगी पड़े ब्रह्माण्ड जो !"

"भले भाँगी पड़े ब्रह्माण्ड जो !" (सुमेरु पर्वत डोल जाय, ऐसी परिस्थिति आ पड़ने पर भी जिसका मन अडिग-अडोल रहता है, चाहे ब्रह्माण्ड टूट गिरे, उसका दिल नहीं टूटता, उसके चित्त में क्षोभ पैदा नहीं होता।)

सन्त गङ्गासती ने अपने इस भजन में जिसका सङ्केत किया है, वह चीज़ कुछ और है। वह शान्ति मन से परे है; वह ध्यान नामक आयाम है।

अब तो अनेक रासायनिक प्रक्रियाओं से मन को घण्टे-दो-घण्टे-चार-पाँच दिन तक के लिए स्तब्ध (रुका हुआ, इस तरह शान्त) बना सकते हैं। You can stimulate a chemical state of relaxation, through manipulation & manoeuvring on the biological & the psychological level. You can feed chemicals into the body, & artificially create that ! लेकिन वह आपके जीवन का आयाम नहीं है। तरह-तरह के रसायन (L. S. D., मेस्क्युलिन, गाँजा-चरस) शरीर में डाल कर, कोई तान्त्रिक प्रक्रियायें करके, किन्हीं विशिष्ट बीजमन्त्रों का जप करके छोड़े समय के लिये आप एक अवस्था बना लेते हैं। लेकिन अवस्था आयाम नहीं है। वह अल्पकालिक है। उसमें से बाहर आया जाता है।

आत्मा में जो सहज शान्ति का प्रसाद है, सहज सन्तुलन का ऐश्वर्य है, सहज प्रेम का आह्लाद है, वह मन के स्तर पर सम्भव नहीं है। बुद्धि चाहे जितने विवेक के चाबुक चलाये; यम-नियमों के पाशों में स्वयं को जकड़ रखे; दमन-निग्रह-पीडन करे या स्वैर स्वच्छन्द उपयोग में इन्द्रियों को रत होने दे—इससे वह सहज आह्लाद-प्रसाद-शान्ति कभी सम्भव नहीं।

(एक-एक प्रश्न स्वतन्त्र विषय हो सकता है; किन्तु अपनी समय की मर्यादा में जितना हो सका प्रश्नों के साथ न्याय किया गया।)

द्वितीय प्रवचन

दि० १६-२-८९ प्रातः १०-३०

हम सब एक यात्रा पर निकल पड़े हैं। इस सहयात्रा में बोलने वाले (वक्ता) और सुनने वाले (श्रोता) को तीन प्रकार के दायित्व उठाने होते हैं। त्रिविध दायित्व न उठायें तो बोलने और सुनने की क्रिया में से संवाद नहीं बन पाता। संवाद निष्पन्न हुए बिना सहयात्रा नहीं होती, सहचिन्तन नहीं होता, सह-अनुभूति भी नहीं हो पाती।

पहली जिम्मेवारी है—सावधान होकर शब्द का उच्चारण करना; एक शब्द से काम चलता हो तो पाँच शब्द बोल कर सुनने वाले का बोझ नहीं बढ़ाना। अल्पोक्ति और अतिशयोक्ति को टालना; वक्ता की जो अनुभूति हो उससे अन्यथा वचन नहीं बोलना, और बोलते समय किसी प्रकार के आग्रह, आवेश या अभिनिवेश को चित्त में न आने देना—बड़ी गम्भीर जिम्मेवारी होती है वक्ता की। अपने शब्दभण्डार को प्रदर्शित नहीं करना है। बोलना ऐसा न हो कि शब्दों के नीचे अर्थ दब जाये। शब्दों के भार से अर्थ दबे न रहें, बल्कि अर्थ का उद्घाटन करें, इसके लिये साधन या माध्यम के रूप में अत्यन्त सादे-सीधे सरल शब्दों का उपयोग हो। यह वक्ता की तरफ से दायित्व है।

श्रोता की जिम्मेवारी क्या है? वह शब्दों को सुने, किन्तु शब्दों के लालित्य में, ध्वनि-माधुरी में, नाद की रम्यता में, संगीत में खो न जाये। शब्द को साधन के रूप में रहने दें, शब्द पर मोहित न हों। क्योंकि शब्द तो वागीश्वरी के कर्णाभूषण हैं, उनके हिलने-डुलने की रमणीयता में ही हम उलझ गये, अटक गये तो अर्थ से भटक जायेंगे। शब्द हम सुनें, उनमें से ग्रहण करें उस अर्थ को, जो शब्दों द्वारा दिखाया जाता है, इङ्गित होता है, जिस अर्थ की ओर संकेत करते हैं शब्द। उस अर्थ को ग्रहण व धारण करें, केवल शब्द को नहीं। नहीं तो चित्त में शब्दों का भार हो जायेगा। अर्थ का भार नहीं होता। अर्थ निर्भार तत्त्व है। अर्थ को ग्रहण-धारण करने से उसमें से रस झरता

है। अतः शब्द का श्रवण, अर्थ का ग्रहण और रस का सेवन, ये तीनों मिल कर श्रवण-कर्म पूरा होता है।

तीसरी बात—रामकृष्णदेव कहते थे कि जब सत्सङ्ग में बैठें तब तीन चीजों को बाहर रख कर आना चाहिये। जैसे जूते-चप्पल बाहर रख आते हैं, वैसे लज्जा, भय, सङ्कोच को बाहर ही छोड़ कर सत्सङ्ग में आना चाहिये। क्योंकि सत्सङ्ग में सुनने को मिलेगा सत्य। उस सत्य से भय नहीं रखना। 'सचाई की बात सुनूंगा तो कहीं मेरे जीवन में प्रतिदिन के व्यवहार में उथल-पुथल न हो जाय—ऐसा यदि भय, कुण्ठा, प्रतिरोध (inhibition, reservation) होगा तो शब्द कानों से टकरा कर वापस चले जायेंगे, अर्थ भीतर नहीं घुसेगा। क्योंकि भय के कारण एक अवचेतन मन का प्रतिरोध (Subconscious resistance) पैदा हो जायेगा। इसलिये सत्य का भय, अज्ञात का भय छोड़ दें। आप जैसे हैं, जो हैं, वैसे ही यहाँ प्रकट हों; जो नहीं हैं वह दिखाने का आडम्बर नहीं; और जो हैं उसे छिपाने का प्रयास नहीं। ऐसी सरलता-ऋजुता में सत्सङ्ग होता है।

(कल प्रास्ताविक प्रवचन था, आज विषय की गहराई में आपके साथ गोता लगाना है।) कल यह कहा गया था कि मन की प्रत्येक क्रिया यान्त्रिक है, जिसको हम मन-बुद्धि-चित्त-अहङ्कार इत्यादि शब्दों से सम्बोधित करते हैं—वह एक संस्कारित ऊर्जा (Coditioned energy) है। ये संस्कार सामूहिक एवं संगठित रूप में होते हैं; किसी प्रयोजन से एवं किसी पद्धति के अनुसार होते हैं। ये संस्कार हमारे नाड़ीतन्त्र में; अस्थि-मज्जा स्नायुओं में रसायन-संरचना में भर दिये जाते हैं। अतः हमारी रग-रग में भरे पड़े हैं। यह जो संश्लिष्ट-संगठित संस्काररराशि है उसे ही हम कभी 'मन' कहते हैं, कभी 'बुद्धि', कभी 'चित्त' तो कभी 'अहङ्कार' कहते हैं। ये सभी वस्तुतः हैं एक ही चित्शक्ति की विविध अभिव्यक्तियाँ। जैसे बिजली रेफ्रिजरेटर में अलग ढंग से काम करती हैं; शीत करती है, बर्फ बनाती है; जो भी 'फ्रिज' में रखा जाय उसे वह ठण्डा बनाती है, वही बिजली हीटर में—इस्त्री में गर्मी लाती है। पंखे को घुमा कर हवा देती है। 'ओवन्' में जो भी रखा जाय वह पक जाता एवं Bake होता है। ऊर्जा एक ही है। विनियोग के साधन अलग हैं, अभिव्यक्ति के प्रकार अलग हैं।

इसी प्रकार, जो संस्कारित ऊर्जा है हमारे भीतर, वह कभी बुद्धि के रूप में काम करती है—पृथक्करण का, संश्लेषण का, निर्णय का; चित्त धारण करता है, संग्रह-सञ्चय करता है; मन भावना-कल्पना-संकल्प-विकल्प करता है। इस तरह इनके काम अलग हैं, ऊर्जा एक ही है। यह ऊर्जा पहले से संस्कारित होने के कारण हमारे शरीर के भीतर वह काम करती है—हाथ-पाँव-जिह्वा-नाक कान-आँख-त्वचा आदि के द्वारा।

सामूहिक मानसिक संस्कार होने का जो आशय (implication & content) व संकेत है उसे हम समझ लें। यह समझ लेंगे तो, मनुष्य जाति ने सभ्यता-संस्कृति का विकास करते हुए जो एक भूल की है, एक भ्रम को पाला पोसा, एक ग़लत रास्ते से मानवजाति निकल पड़ी—उस सबका निराकरण होगा; ग़लत रास्ते से हट कर सही रास्ते पर मानव-जाति आगे बढ़ेगी; भ्रान्ति दूर होने पर निर्भ्रान्तता का प्रसाद चित्त को भर देगा। इस भूल के कारण जो अनेक आवश्यक एवं अनिच्छनीय समस्यायें व्यक्ति एवं समाज के जीवन में खड़ी हो गयीं, वे अपने आप सुलझ जायेंगी। तनाव-दबाव दूर होंगे। इसलिए इस भ्रम व भूल को ज़रा धीरज से देखने का हम आप प्रयत्न करेंगे। धीरज इसलिये चाहिए कि सत्य को देखने का अभ्यास नहीं है। वह प्रिय व रुचिकर ही होगा ऐसा नहीं। तो, क्या भूल की है सम्पूर्ण मनुष्य जाति ने ?

मेरे देखे, भूल का स्वरूप ऐसा है कि हमने मान लिया कि जैसा यह अपना साढ़े तीन हाथ का शरीर है, उसका एक व्यक्तित्व है; उसका अलग ही प्रकार का रूप-रंग-आकृति-चाल-ढाल है, अवयव आदि हैं, इन सबके कारण आपको एक व्यक्तित्व मिला है। देह के भीतर अस्थि-मज्जा-रक्त-मांस आदि सबके समान हैं, फिर भी पृथक्ता के कारण नाम भिन्न है, व्यक्तित्व भिन्न है। इससे आगे बढ़कर हमने यह मान लेने की भूल की कि इस देह द्वारा काम करती हुई जो बुद्धि है, चित्त है, मन सहित ग्यारह इन्द्रियाँ (संवेदन-ग्रहण और कार्य करने की शक्तियाँ) हैं—वह सारा अभिव्यक्ति का साधन भी सबका अपना अलग-अलग है, यानी अन्दर भी सब का अलग व्यक्तित्व है।

हाड़-मांस के शरीर का जैसे पृथक् अस्तित्व (identity) है वैसे मानो इनके भीतर भी कोई अलग व्यक्तित्व बैठा है, जिसे हम 'मैं' कहते हैं, जिसके सम्बन्ध से 'मेरा' का पसारा खड़ा करते हैं। वह 'मैं' नाम का

मानो कोई स्वतन्त्र सूक्ष्म अस्तित्व है, वस्तु है। व्यक्तिगत 'मेरापन' है। बाहर जैसे मेरे कपड़े हैं, मेरा धन है, मेरी काया है, वैसे अन्दर भी मानो कोई एक मानसिक काया है, उसकी एक हस्ती है, यह मान लिया। यानी 'व्यक्तिगत मन' कोई वस्तु है। जैसे व्यक्तिगत शरीर है ऐसे व्यक्तिगत मन भी एक हस्ती है जिसको 'मैं' कहते हैं।

फिर यह भी मान लिया कि इस 'मैं' को जिससे सुख होता है वह उसे देना चाहिये और जिससे दुःख होता है, उससे दूर रखना चाहिये। 'मैं' को जो कुछ अप्रिय-अरुचिकर-बाँधने वाला या कष्ट देने वाला है उसे हटा देना चाहिये, उससे मुक्ति मिलनी चाहिये। 'मैं' नाम को जो हस्ती भीतर है उसकी रुचि-अरुचि की परवाह है, उसके सुख-दुःख की परवाह है, उसके लिये जीवन है, उसकी माँगें पूरी करनी है। उसकी आकांक्षायें पूरी न हों तो वह 'मैं' हताश-निराश हो जाता है।

एक तो खड़ी हुई "मैं" नाम की एक काल्पनिक हस्ती; उसके साथ भाषा बनी 'मेरे' "तेरे" की। "मेरे-तेरे भेद का पर्दा.....।" "मैं" की कल्पना के साथ ही 'मेरे-तेरे' की सीमाओं की कल्पना, फिर बन्धन और मुक्ति की कल्पना खड़ी हुई। मुक्ति के लिये विविध साधनायें बनीं, मुक्ति में भी स्तरभेद बना, सीढ़ियाँ-सोपान बने। फिर कौन किस सोपान पर खड़ा है इसके निर्णय होने लगे। यह एक गृहीत सत्य मान लिया गया कि व्यक्तिगत 'अहं' (Individual ego, an individual self, individual me.) की एक हस्ती है। "मैं" नाम का कोई जीवात्मा है।

मैं बहुत नम्रतापूर्वक, साथ ही दृढ़तापूर्वक कहना चाहती हूँ कि यह भ्रम है। "मैं" नाम की कोई पृथक् हस्ती नहीं है। शरीरों की हस्ती है, इनके भीतर सामूहिक संस्कारों के पुञ्ज हैं। ये जो सामूहिक संगठित मन हैं इनमें एक हिन्दू मन बना, एक मुस्लिम, एक ईसाई, जैन-बौद्ध-सिख मन बना। उनमें भी फिर अलग-अलग प्रकार हैं। सामूहिक संस्कार और उनके अलग-अलग नमूने। उन नमूनों में फिर तरह-तरह की कारीगरी-कलाकारी हुई है—"इस परिवार में खान-पान इसी ढंग का होगा, वेशभूषा-जीवन शैली इसी प्रकार की होगी"। यह सब हुआ। लेकिन मूल में हैं सामूहिक संगठित संस्कार। ये अपने में से प्रकट होते हैं। फैक्टरी में सामान बनते हैं—एक-एक नमूने के हजारों-लाखों की

तादाद में सामान बनते हैं। मोटरगाड़ी को ही लीजिये—फियाट एम्बेसेडर, मारुति, मारुति वैन, स्टेशन वैगन, मेटाडोर, जीप इत्यादि नमने हैं, प्रत्येक के हजारों बनते हैं। सब मारुति गाड़ियाँ हैं तो एक दूसरे से अलग, लेकिन उन सब का काम करने का ढंग एक है। कारखाने में से एक नमूने (model) की पचास हजार गाड़ियाँ निकलें, पर सब की संरचना, कल-पुर्जे, कार्यपद्धति एक ही प्रकार की होगी।

उसी प्रकार आपके-हमारे शरीरों के भीतर व शरीरों द्वारा जो मानसिक क्रिया-प्रक्रियाएँ चलती हैं—उनका नमूना अलग होने पर भी भीतर कोई व्यक्तिगत पृथक् हस्ती नहीं है। सामूहिक चित्त का एक नमूना आपके द्वारा प्रकट हो रहा है। (It is a sample of a collective product.) इस बात को हम ठीक से समझ लें। (यह शिबिर प्रवचनों के लिये नहीं, आपका व मेरा संयुक्त स्वाध्याय है। वक्तव्य और श्रोतव्य मिल कर संवाद घटित हो रहा है। मैं आपको कुछ बतला नहीं रही हूँ। आप के साथ बैठकर कुछ सोच रही हूँ। अन्तर केवल इतना ही कि है खेल की 'टीम' का 'कैप्टन' जैसे आगे बढ़कर काम करता है, वैसे मैं आपकी तरफ़ से बोल रही हूँ।) कोई व्यक्तिगत 'अहं' नाम की वस्तु या सत्ता है, व्यक्तिगत मन बुद्धि है, कोई 'व्यक्ति-जीवात्मा' है—इस भ्रम के कारण ही बन्धन और मुक्ति की कल्पनायें पैदा हुईं। एक अनावश्यक तनाव पैदा हुआ, उसमें से संघर्ष उपजा। 'यह सांसारिक है' 'यह पारमार्थिक है' 'यह आध्यात्मिक है'—ऐसे वर्गीकरण हमने कर लिए।

कहना यह है कि मन एक सामूहिक संगठित संस्कारपुञ्ज है, उसकी कोई व्यक्तिगत स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। आप के या मेरे भीतर कोई व्यक्तिगत 'Ego' 'अहं' नहीं है जिस के आसपास कोई संस्कारों व बन्धनों का जाल हो, जिसे काट कर मुक्त होना है। जैसे अज्ञान को ज्ञान से काटा जाता है, जैसे अधर्म को धर्माचरण से ही काटा जा सकता है, वैसे यह जो भ्रम है मन को व्यक्तिगत मानने का और पृथक् 'अहं' की हस्ती मानने का, इस भ्रम को हटाना ही उपाय है बन्धन काटने का, या मुक्त होने का। अन्य कोई उपाय नहीं। जो है ही नहीं, उसका नाश क्या करेंगे? बन्धन हों तो मुक्ति की भाषा संगत होती है। व्यक्तिगत मन—'अहं'—'जीव' कोई हो तो उसके बँधने-छूटने का

सवाल होगा न ! एक अप्रिय बात आप से कह रही हूँ कि बन्धन और मुक्ति दोनों मिथ्या हैं। अज्ञान और ज्ञान है, मूढ़ता और समझ है, और कुछ नहीं।

यह चीज कैसे पकड़ में आयेगी ? हमने कह दिया कि "मन यान्त्रिक है, पृथक् 'अहं' कल्पना-मात्र है, सामूहिक संगठित संस्कार पुंज ही इन रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है। इनकी स्वतन्त्र कोई हस्ती नहीं",—इतने से ही क्या आप मान लेंगे ? नहीं। जिसकी प्रतीति न आये उसे अपने भीतर न घुसने दीजिये। किन्तु वह प्रतीति हो पाये इसका अवसर अवश्य स्वयं को देना चाहिये। वह अवसर पैदा करना होगा। वह होगा देखने के कर्म (the total action of observation) द्वारा। निरुपाधिक देखना (the state of observation), प्रतिक्रिया और मूल्याङ्कन से रहित देखना। यही एक उस प्रतीति के अभ्यास का जरिया, रास्ता या उपाय मुझे दिखता है। इसलिए अपने २४ घण्टे में से कुछ समय निकालिये। क्योंकि यह सीखना पड़ेगा।

'शुभसंस्कारसिञ्चने शिक्षणम्'। अपना शिक्षण स्वयं करना है। यहाँ आप ही गुरु हैं, आप ही शिष्य। बड़ा रोमाञ्चक कर्म है सीखना, और वस्तुतः वही जीवन जीने का घटक या उपादान है (The act of learning is the content of life)। बिना थके, बिना हारे, सीखते चले जायें—यह जीवन जीने का आशय है। यश-अपयश में से, उपेक्षा और अपमान में से सुख में से, दुःख में से, सहयोग और विरोध में से सीखते रहना है। जो सीखता रहता है उसमें चिर-यौवन रहता है। 'तुरीयावस्था (जागृति-स्वप्न-सुषुप्ति से आगे, इनसे अलग चौथी अवस्था) को 'चिर षोडशो' कहा गया है। वैसे ही, बिना किसी पूर्व-ग्रह के, बिना प्रतिरोध के देखना और सुनना—यह सीखने का प्रारम्भ है। आग्रह और आसक्ति के बिना जो देखता-सुनता रहे वह सीख सकता है। जो हर श्वासोच्छ्वास में सीखता चले उसमें ताजगी रहेगी। वह कभी बासी-पुराना नहीं पड़ेगा। शरीर पर भले झुर्रियाँ पड़ जायें, पर उस शरीर के भीतर जो चेतना है वह हरी-भरी रहेगी। जैसी २०-२५ वर्ष के युवा की रहती है। वह यौवन की हरियाली उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग में से दृष्टि में से झलकती रहेगी।

यह कहा जा रहा था कि 'मैं-पन का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व है'—यह भ्रम यदि निकल जाता है, और सामूहिक संस्कार ही शरीर में से प्रकट हो रहे हैं—इसका भान हो जाता है तो क्या होगा ? आपने नियमित रूप से प्रतिदिन २०-२५ मिनिट यह 'देखने' का अभ्यास किया, विचार चलते हैं—चलने दीजिये, स्मृतियाँ उभरती हैं, कल्पनायें मँडराती हैं—होने दीजिये, आप सिर्फ देखते रहिये, आप चलिये नहीं, मँडराइये नहीं। आपको न चलना है, न रुकना है, न पकड़ना है, न छोड़ना है, बस देखने की अवस्था में स्थिर-प्रतिष्ठित होना है। यह देखने का कर्म आपको भविष्यरहित मौन (futureless & timeless silence) में ले जायेगा। एक ऐसे शून्य में ले जायेगा, जहाँ भविष्य नहीं है। भूतकाल छूट गया है, और भविष्य की सम्भावना नहीं रही। काल ही नहीं रहा वहाँ। उस मौन को घण्टे-दो-घण्टे के हिसाब से नापा नहीं जा सकता। ऐसी एक शून्यावस्था-मौनावस्था में वह 'देखना' आपको ले जायेगा।

यह देखना यदि सध गया, अभ्यास पक्का हो गया, यानी देखते समय प्रतिक्रिया नहीं उठती, उद्वेग नहीं होता, अहङ्कार नहीं उभरता, कोई बेचैनी नहीं होती। जैसे कभी निसर्ग के आनन्द में बैठते हों तो पुष्पों का खिलना, पक्षियों का उड़ना-चहचहाना देखते हों, सरिता का बहना—आकाश की नीरवता देखते हों, तब जैसे चित्त स्थिर रहता है, वैसे यदि आपके अपने भीतर चलता चलचित्र दिखते समय आप स्थिर रह सकें; भीतर पड़े सामूहिक संगृहीत संस्काररराशि का नर्तन, ताण्डव दिखेगा, कभी उग्ररूप कभी सौम्यरूप, जो दिखेगा देखते रहिये।

उससे आपका सम्बन्ध बदल गया। भीतर क्रोध दिखा, ईर्ष्या दिखी, कामविकार उठता दिखा तो वह काम-क्रोध-आदि आपके नहीं रहे। मानवजाति के चित्त में संगृहीत विकारों के रूप में वह दिखेगा। वह आपके अङ्गभूत गुण या दोष नहीं है, आपकी मिल्कियत (Property) नहीं है। देह के साथ जुड़ी हुई सामूहिक विरासत है। वह केवल आपकी अपनी नहीं है।

जब उसे अपनी मान लेंगे, तभी 'यह मेरा क्रोध—मेरा काम-मेरी ईर्ष्या-वासना' आदि के रूप में उसे पाकर उनसे मुक्त होने की

इच्छा, फिर छटपटाहट, और उसके लिये उपाय योजना में पड़ेंगे। वह पूरी मनुष्यजाति का है इसलिये, अब तक जो वह संकट लगता था, उसे देख कर हताशा-निराशा आती थी, उसके बदले चित्त में वही उठेगा जो गौतम सिद्धार्थ के चित्त में उठा था, कि "अरे! मनुष्य-जाति की यह नियति है? यह शरीर बीमार भी होगा, वृद्ध भी होगा, इस शरीर को मरना भी पड़ेगा? मनुष्यजीवन का यही क्रम है? यही पद्धति है? "सर्वम् अनित्यम्? सर्वं दुःखम्, सर्वं क्षणिकम्"—इसमें से मनुष्य छुटकारा पा सकता है या नहीं?"—देखा आपने? दृश्य एक ही है, पर उसके साथ का सम्बन्ध बदल गया, चिन्तन बदल गया, चिन्तन का आधार बदल गया। "मेरा यह कैसे दूर होगा? मेरी इसमें से मुक्ति कैसे होगी? कौन मुझे छुड़ायेगा? किसके पास जाऊँ?" ऐसा सोचने के बदले "क्या मनुष्यजाति इसमें से छूट सकती है?" यह उठेगा चित्त में। खूब ध्यान से देखियेगा—Instead of stimulating egocenterd suffuring it may awaken a deep sorrow for the whole mankind, of which you are an expression.

अहंकार के पास 'वेदना-व्यथा-दुःख-पीड़ा' नाम का बहुत बड़ा हथियार है। जैसे स्त्रियों के पास रोने का हथियार होता है। कितने ही काम वे रो-धोकर करा लेती हैं—परिवारवालों से। दूसरे पर आश्रित होना, दूसरे को अपना अवलम्ब बना लेना, परनिर्भर हो जाना ("आप के बिना मेरा जीवन कैसे चलेगा? कैसे जिया जायेगा?")—यह भी एक हथियार है; वह भी छिपा हुआ आक्रमण है, प्रभुत्व है। कोई खुलेआम प्रभुत्व जमाता है तो कोई आश्रित बन कर सूक्ष्म-छद्मस्थ आक्रमण करते हैं। हैं दोनों आक्रमण ही। तो, वैयक्तिक पीड़ा-वेदना-व्यथा के बदले एक ऐसा तीक्ष्ण विषाद-दुःख होता है। वह एक शक्ति का सर्जन करता है। अहंकेन्द्रित वेदना शक्ति को घटा देती है, किन्तु मानवमात्र के लिये उद्भूत जो समग्र वेदना है वह शक्ति बढ़ाती है। इस तरह सम्बन्ध बदल जाता है; अब 'मेरे' बद्ध या मुक्त होने की बात है। पूरी मनुष्य जाति के लिये चिन्तन होने लगता है।

यह यदि हो जाय तो आज तो संसार में पलायनवाद चल रहा है, उससे हम बच जायेंगे। आज हालत यह है कि दो-चार धर्मग्रन्थ पढ़े;

कि "अरे-रे, यह सब तो बन्धन है; कैसे मुक्ति मिले ?"—बस चले किसी गुरू की खोज में जो मुक्ति दिला दे। पूछने लगे—"मुझे क्या करना होगा इसके लिये ? किस पद्धति की साधना कितना समय करनी होगी ?" इसके बदले 'देखने' का अभ्यासी व्यक्ति यह सोचेगा कि यदि समस्त मानसिक क्रियायें यान्त्रिक हैं तो मन के द्वारा जो कुछ भी किया जायेगा, वह सांसारिक प्राप्ति के लिये हो या मुक्ति के साधना के नाम पर हो—वह यान्त्रिक ही तो होगा ?

संसार में पति-पत्नी-परिवार को 'मेरा' कहें या 'गुरु' एवं आश्रम आदि के परिसर में साथी-सत्सङ्गी लोगों को 'मेरा' कहें या 'प्रभु' को ही 'मेरा' कहें—यह 'मेरा-पन' जोड़ने वाला तो मन ही है। इस मन से मुक्त होने का सीधा-सरल एवं सच्चा उपाय तो यही हो सकता है कि सभी यान्त्रिक क्रियाओं के शान्त होने का अवसर जीवन में लाया जाय। पहले था—"मैं कैसे मुक्त होऊँ ?" "मुझे मुक्ति कैसे मिले ?" अहंकार की ही आकांक्षा मुक्ति को विषय बना रही हो—इससे बड़ा बन्धन कुछ नहीं। अहंकार की मुक्ति को वासना प्रबल बन्धन है। "मैं मुक्त होऊँगा" "मैं मुक्ति दिलाऊगा" "मैं प्रभु के दर्शन पाऊँगा"....बड़ा आया "मैं"।

इस तरह सारी साधना एक विशिष्ट क्षेत्र में प्राप्ति की अहंकार की चेष्टा बन जाती है। कुछ करने का—कुछ कमाने का नया क्षेत्र मिल जाता है अहंकार को। फिर "मुझे" कितना मिला ? दूसरों को क्या मिला, क्या नहीं मिला"—इसके पचड़े चलते हैं। तुलना-स्पर्धा-ईर्ष्या-द्वेष आदि का पसारा साधना के नाम पर भी खड़ा हो जाता है। उधर 'गुरुओं' का व्यापार चलता है—"मेरी शरण में आ जा ! मैं मुक्ति दिलाता हूँ !" जब सत्य यह है कि बन्धन और मुक्ति दोनों कल्पनामात्र हैं। कहा है न अखाभगत ने "शास्त्रियों ने की यह युक्ति। कल्पा बन्ध और मानी मुक्ति।" सब जानते हुए भी धर्म के नाम पर व्यापार करते हैं। और व्यापार-धन्धों की तरह इस क्षेत्र में भी easy money unearned income का बोलबाला है।

मित्रो ! न मुक्ति कोई दिला सकता है, न वह खरीदी-बेची जा सकती है; न मुक्ति नाम की कोई वास्तविकता है। जल ने एक आकार धारण किया बिन्दु का, बिन्दु से बुलबुला बना। वह बुलबुला (बुदबुद) आकार

रहे तब भी जल है, आकार टूट जाय तब भी जल है। यह समझ में आ जाय तो साधना के नाम पर जो सत्त्वगुणी क्रियायें चलायी जाती हैं पर वस्तुतः आत्मभान से जिनका कोई तालमेल नहीं बैठता, वह सब खेल-तमाशा बन्द हो जायेगा।

प्रचलित बातों से बहुत अलग बात यहां कही जा रही है। यह तो प्रवाह की विरुद्ध दिशा में (उलटे) तैरने के समान है। न बन्धन है, न मुक्ति है इतना ही नहीं; मुक्ति के नाम से होने वाला पुरुषार्थ का घटा-टोप एक प्रकार से पलायनवाद है।

सवाल उठता है कि फिर इस यान्त्रिक मानसिक क्रिया के साथ क्या करें ? इसका उदात्तीकरण (sublimation) करें ? हठयोग से चक्रभेदन करके इस क्रिया को परिष्कृत-परिमार्जित (refined) बनायें ? मन्त्र-तन्त्र द्वारा कुछ करें ? पर वह रहेगी मन की क्रिया। मन तीन ही प्रकार की क्रियायें जानता है। कोई न कोई हेतु रख कर अपने लिये प्राप्ति करना, अपनी सुरक्षा के लिए हेतु पैदा करना, फिर उसकी पूर्ति के लिये मेहनत करना, जिसमें से कुछ अर्जन (कमाना) हो सके फिर उस अर्जित का परिग्रह-संग्रह करना। (motivation, aquisition property & possession)—यही जानता है मन।

ये मानसिक क्रियायें आप कुटुम्ब-परिवार के नाम पर करें या संस्था के नाम पर, समाज-सेवा के नाम पर, आध्यात्मिक साधना या आश्रमजीवन के नाम पर करें। मन की वे तीन क्रियायें चलती रहती हैं—हेतु, अर्जन, संग्रह। उसमें फिर तुलना-स्पर्धा आयेंगी ही, वह सारी हिंसा तक ले जाने वाली शृंखला चलेगी। यह ध्यान में आना चाहिए कि मन की कोई क्रिया धार्मिक या आध्यात्मिक नहीं हो सकती है। तब एक ही रास्ता शेष रह जाता है—इन क्रियाओं को शान्त होने देना। इसके अभ्यास के लिये आप की जीवनचर्या में प्रतिदिन के २४ घण्टों में जितना अधिक से अधिक समय आप निकाल सकें, अवश्य निकालें। जितनी आप की उत्कटता होगी सत्य को समझने की, परतत्त्व के संस्पर्श की, उसके अनुसार आप समय निकालेंगे, बैठेंगे और देखने की अवस्था में स्थिर हो जायेंगे। आप को कुछ करना नहीं है, स्थिर होना है; बाकी तो वह स्थिरता अपने आप करा लेगी। वह शून्य, मौन, आप का काम करा लेगा, लेकिन उसमें प्रतिष्ठित होना है।

यह देखने के कर्म का अभ्यास हो जाय तो प्रतिदिन के अपने नियत समय में तो मानसिक गति-विधि को—विचारों के चलने को आप देखेंगे ही, बाकी समय कार्य करते हुए भी एक ओर तो इन्द्रियाँ-मन-बुद्धि अपना-अपना काम करेंगे, दूसरी ओर इन सब क्रियाओं को तटस्थता से देखने की अवस्था भी बनी रहेगी। यानी शरीर की इन्द्रियों द्वारा होने वाले किसी भी व्यवहार से आप उद्विग्न नहीं होंगे। दुःख होगा तो उसे दुःख रूप से आप देखेंगे अवश्य (It will be registered as pain) किन्तु उससे चित्त में क्लेश (suffering) पैदा नहीं होगा। शरीर के कष्ट के लिये या अन्य घटना के लिये जो अपेक्षित प्रतिसाद होगा—उपाययोजना होगी वह समुचित रूप से आप करेंगे, किन्तु चित्त में क्लेश नहीं रहेगा। कृष्णमूर्त्तिजी के साथ किसी की बात चल रही थी, उसने उल्लेख किया अपनी बीमारी का। कृष्णजी ने पूछ लिया कि कहाँ क्या तकलीफ थी, सब जान लिया, फिर उससे एक सुन्दर प्रश्न पूछा—"Sir have you allowed the physical pain to enter in your mind & create suffering ? (क्या आपने शरीर के कष्ट को आपके मन में घुसने दिया है ? उसे वेदना-पीड़ा बनने दिया है ?) शरीर का कष्ट चित्त तक जाकर 'आपका' नहीं बनता तब तक वह क्लेश पैदा नहीं कर सकता।

बाहर की परिस्थितियों के टकराव से, शीत-उष्णता-वर्षा या अन्य विषमतायें आदि से शरीर को कष्ट होगा, लोगों के गलत व्यवहार से कष्ट होगा, असुविधायें होंगी, कोई अपमान करेगा, निन्दा करेगा, सब होगा। "तुलसी या संसार में भांति-भांति के लोग।" Order देकर मनपसन्द नमूने की वस्तुयें बनवा ली जाती हैं—वैसे मनुष्य तो नहीं बनवा लिये जा सकते। उनके अलग-अलग स्वभाव हैं, अलग रंग-ढंग हैं; सबको देखेगी संवेदनशीलता, लेकिन निरुपाधिक देखने की अवस्था उस देखने एवं सम्पर्क में से अपना नुक्सान नहीं होने देगी। जो उचित है, वही प्रतिसाद देगी।

क्योंकि मालूम हो गया है कि सब मानसिक क्रियायें यान्त्रिक हैं; किसी एक यान्त्रिक क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण हम क्यों अपने भीतर अशान्ति उपजा लें ? और यदि अपने भीतर भी अहंकार (जिसकी कल्पना को बारम्बार दोहराये जाने से तथ्य मान लिया गया है, वह)

दुःखी होता है, तो वह दुःख भी दिखेगा। जैसे बाहर का व्यवहार दिखेगा वैसे भीतर की मानसिक क्रिया भी दिखेगी। ये दोनों दिखने की अवस्था में आप जो रहे हैं, इसलिये, न बाहर के व्यवहार से आप आहत होंगे, न भीतर की क्रिया को महत्त्व देंगे। दोनों से अलग रहेंगे।

यह कोई बहुत मुश्किल बात नहीं है। विज्ञान ने देश और काल के साथ हमारा सम्बन्ध बदल दिया है। पहले बैलगाड़ी से जाते थे, उससे २५ मील जाने में जितना समय लगता था उससे बहुत कम समय साइकिल से जाने में लगता है, मोटर में जाने में और भी बहुत कम। (Time & Space started shrinking before the onslaught of science & Technology.) टेलीविजन ने तो और भी सम्बन्ध बदल दिया है मनोनिर्मित समय तथा देश के साथ। अब अध्यात्म आपके भावना-विचार-शब्द आदि के साथ सम्बन्ध को बदल देता है। मानसिक क्रियाओं के साथ जो सम्बन्ध था उसे अध्यात्म बदल देता है। इससे घबराहट कैसी ? बैलगाड़ी से उठकर Space Rocket में बैठने में नहीं घबराते हैं तो मानसिक जगत् में सम्बन्ध बदल जाने से घबराना क्यों ? चाँद पर उतरने में घबराहट नहीं होती, फिर मानसिक क्रियाओं के घेरे (Orbit) में से निकलने में क्यों डर लगता है ?

देखने की क्रिया आपको ऐसी अवस्था में पहुँचा देती है जहाँ सम्पूर्ण मानसिक क्रियायें शान्त-निवृत्त-विसर्जित हो जाती हैं। देखने के अभ्यास में बैठे हों तब आप दुःखों की निवृत्ति के लिये नहीं बैठे हैं, मुक्ति कमाने नहीं बैठे हैं। भयङ्कर लगेगी यह बात जो मैं कह रही हूँ, लेकिन है यह वास्तविक। अपनी दुःखनिवृत्ति—अपनी मुक्ति पाने के लिए आप नहीं बैठे हैं। आप देख रहे हैं कि "जिस मनुष्यजाति का अविभाज्य अङ्ग मैं हूँ (I am the humanity, I am an expression of the totality of humanity) जिस मनुष्य-जाति की अभिव्यक्ति मैं हूँ—वह मनुष्यजाति इस अभिव्यक्ति द्वारा पुरानी चली आती यान्त्रिक मानसिक क्रियाओं से मुक्ति पाये और नई गति धारण करे, क्या यह हो सकता है ?" आप जो कुछ करेंगे वह सम्पूर्ण मानवजाति की ओर से करेंगे, (On behalf of the humanity the investigation, the exploration takes place, not for the little ego.)

देखा ! साधना के प्रथम चरण में ही किस प्रकार की उदात्तता आ जाती है, किस प्रकार क्षुद्रता का विसर्जन हो जाता है। It is the quality of silence that blossoms into the integrity & quality of understanding which flourishes in life, इस प्रकार मानसिक क्रियाओं को शान्त होने देना सबसे बड़ा पुरुषार्थ हो गया। नये कर्मों का पसारा नहीं, नई क्रियाओं के पसारे के लिए नया वातावरण पैदा करना, उसके नये सरंजाम ढूँढ़ना व जुटाना नहीं। जो पसारा है—वह कहाँ कम है ? कि अध्यात्म के नाम पर नया पसारा खड़ा करें ? इतना ही ख्याल रखना है कि भीतर चल रही मानसिक क्रियाओं में हम दखल न दें, बीच में हाथ न डालें (no interfering,) न उन्हें सुधारने का यत्न करें, न इन्हें छोड़ने का, न इन्हें दबाने का ! मानसिक क्रियाओं के सम्पूर्ण रूप से शान्त होने पर क्या होता है ? इसे देखना है।

आज हम व्यक्तिगत चित्त की हस्ती के भ्रम से मुक्त होकर एक वैश्विक व सामूहिक चित्त तक पहुंचे हैं; आज की जितनी मानसिक क्रियायें हैं उनकी यान्त्रिकता का साक्षात्कार होने के कारण, अब तक इन क्रियाओं को जो महत्त्व दिया था, इन क्रियाओं की जो ममता थी, जो आसक्ति थी, उससे आज हम कम से कम वैचारिक दृष्टि से दूर हट कर खड़े हैं।

●

- साधना अपने जीवन में प्रयोगशाला खोलने का काम है।
- अध्यात्म मानसिक कर्म का विषय है ही नहीं, यह जब तक समझ में नहीं आयेगा तब तक साधना में स्थूल परिणाम देखने की लालसा बनी रहेगी।
- "मैं हूँ" इस भान का आशय क्या है ? इसकी खोज ही अध्यात्म की खोज है।
- अहङ्कार के दो चरण हैं—'चाहिये', 'नहीं चाहिये', इनके चरणविन्यास ही बन्धनजाल हैं।
- अहङ्कार दुर्गन्ध पैदा करता है। निरहङ्कारिता ही जीवन का एकमेव सौरभ है।

प्रश्नोत्तरी

दि० १६-२-८९ **समय–अपराह्न**

प्रश्नोत्तरी के माध्यम से जो सहचिन्तन होता है, उसमें आवश्यक नहीं कि दो-चार वाक्यों में ही प्रश्न का उत्तर दे दिया जाय। प्रश्न को हाथ में लेकर देखते हैं कि यह प्रश्न क्यों उठा ? कैसे उठा। यह प्रश्न स्वयं अपना उत्तर देता है या नहीं ?

प्रश्न—आपने कल भगवान् के ध्यानविषयक प्रश्न के उत्तर में कहा था कि यह अध्यात्म नहीं है। यह 'ध्यान' नहीं, यह तो समझ में आता है किन्तु 'अध्यात्म से इसका सम्बन्ध नहीं'—यह समझा नहीं जा सका। कृपया उसे स्पष्ट कीजियेगा।

वि०—यदि प्रश्नकर्ता ने कल अवधान-पूर्वक सुना होगा, तो याद होगा कि 'भगवान्, ईश्वर के नाम-रूप-लोला की शब्द-सृष्टि मनुष्य-निर्मित है, परमात्मा, जोवनविभु, प्रभु एक सत्ता है, वह सर्वाकार है, सर्व में ओत-प्रोत है, सारा ब्रह्माण्ड ही उसका विग्रह है; उसकी आराधना-उपासना नहीं हो सकती। उस सत्ता के साथ अनुसन्धान जोड़ा जा सकता है। लेकिन, जनसामान्य में उस अनुसन्धान को सतत वहन करने की शक्ति नहीं, इसलिये अपने पूर्वजों ने युक्ति निकाली कि उस सर्व-व्यापी-विभु-सर्वशक्तिमान् का प्रतीक एक विग्रह बनाया जाय, उसमें प्राण-प्रतिष्ठा करके उससे भावसम्बन्ध जोड़ा जाय। उसके लिये मन्दिर, 'विहार', 'देरासर', गुरुद्वारा आदि बनाये गये। ये जिस तरह मनुष्य-निर्मित हैं उसी प्रकार सगुण-साकार ईश्वर की कल्पना भी मनुष्य का सर्जन है।

उपासना का भी शास्त्र है; भक्तियोग का मर्म है उसमें, लेकिन उपासना के लिये अभ्यास करना पड़ता है। जो सर्वाकार-सर्वदेशी है उसको एकदेशी बनाना पड़ता है, निराकार-निर्गुण को आप अपनी संवेदनशीलता से, अपनी प्रतिभा से साकार-सगुण बना लेते हैं। चौबीसों घण्टे अनुसन्धान नहीं रहता इसलिये इन विग्रह के पास आप दो-चार

घण्टे बैठते हैं, उन पर अपने भाव उँडेलते हैं, अर्चना-आरती-नैवेद्यार्पण आदि करते हैं। इस तरह निर्गुण-निराकार का सगुण-साकार प्रतीक बना लेते हैं। पर यह अध्यात्म नहीं है।

अध्यात्म है जीवन के चरम सत्य को समझना; सत्य है चैतन्यसत्ता का सर्वव्यापी होना।

"मालिक बिन खाली नहीं सुई धरन को ठौर।
आगे पीछे राम हैं, राम बिना नहिं और।"

पाँव के नीचे धरती का कण-कण प्रभु है; जो भी रूप आँख के सामने आये उसमें नूर प्रभु का ही है, जो नाद सुनाई दे वह उसी का है।

"यहाँ दम-दम पे होती है पूजा, सिर झुकाने की फुर्सत नहीं है।
यहाँ सर देकर होते हैं सौदे, आशिकी इतनी सस्ती नहीं है।"

अध्यात्म में उपासना को स्थान नहीं है। सत्य को जानना और प्रतिपल जीवन में उसे जीना। सत्य है जीवन की अखण्ड-अविभाज्य एकता; सत्य है चैतन्य की सर्वव्याप्ति। उसका अनुसन्धान साधे हुए जीना है अध्यात्म; और उसका प्रतीक बनाकर उससे केवल भाव-भावनामय सम्बन्धों में खेलना—यह है उपासना। यही अन्तर है। उपासना में करण या साधन है चित्त, और अध्यात्म है चित्तवृत्तियों से परे जीवन जीना। यहाँ अध्यास नहीं, आरोप नहीं, क्रिया-प्रक्रिया नहीं, "अनुपाय एव उपायः"।

जानने और जीने के बीच वहाँ कोई क्रिया-प्रक्रिया या समय का अन्तराल नहीं आ सकता। इस अध्यात्म के लिये अंग्रेजी में Spirituality शब्द है। जिसे आप Religion या प्रचलित अर्थ में धर्म कहते हैं उसमें उपासना-पूजा-दान-पुण्य आदि सब आता है। संगठित आचारों वाले धर्म में इनका स्थान है। अध्यास करने के लिये भी कवि का हृदय चाहिये। छोटे से विग्रह में सर्वव्यापी सर्वशक्तिमान् प्रभु को देखने, भाव धारण करने के लिये सूक्ष्म व सबल संवेदनशीलता चाहिए। लेकिन वह सब शरीर और मन के स्तर का व्यापार है; इसलिये कहा था कि यह अध्यात्म नहीं है।

प्रश्न—शरीर-मन-बुद्धि को देखने वाली यानी द्रष्टृत्व की चेतना कौन सी है? क्या वही आपकी वैश्विक चेतना (Cosmic consciousness) है? वह 'ego' (अहं) तो नहीं? जो स्वयं एक भ्रम है?

उत्तर—संवेदनशीलता (sensitivity) जिसे प्रज्ञा भी कहा जाता है, वह पञ्चमहाभूतों में प्रतिष्ठित है; वह प्रत्येक शरीर में भी है। धरती में बीज बोते हैं। उस बीज में भी संवेदनशीलता है—धरती के रस को ग्रहण करने, चूस लेने की। सूर्यप्रकाश में से हवा-पानी में से अपना पोषण पाना वह जानता है। उसमें इतनी प्रज्ञा है। धरती के अणु-परमाणु में ऊर्जा भरी हुई है (A quantum of energy concealed in an atom, in electron-proton etc.) उस ऊर्जा को विज्ञान अणुशक्ति या न्यूक्लियरशक्ति कहता है, उसमें भी प्रज्ञा है, संवेदनशीलता है। वहाँ कोई व्यक्ति नहीं है। धरती में यह जो (व्यक्तिकेन्द्ररहित) सहज संवेदनशीलता है इसे अध्यात्म की भाषा में द्रष्टृत्व कहा गया (The seeing intelligence, the perceptive sensitivity.)

प्रज्ञाचक्षु (जन्मान्ध या बचपन में दृष्टिहीन हुए) व्यक्ति को देखिये। उसका सारा शरीर ही मानो नेत्र बन जाता है। कान से पदचाप सुनकर वे पहचान लेते हैं कि व्यक्ति कौन है। उनका द्रष्टृत्व आँख तक सीमित नहीं। वह एक ऊर्जा है। उसके लिये किसी ज्ञानेन्द्रिय की या व्यक्ति होने की पृथक् किसी हस्ती (individuality या identity) की कल्पना करना बहुत बड़ी भूल है।

मन-बुद्धि-चित्त की क्रियायें (The neurochemical movements in the body) तो संस्कारों के अनुसार होती हैं, जो सदियों से भरे गये हैं धर्मों-संस्कृतियों के द्वारा, जाति-परम्पराओं के द्वारा, समाज और शिक्षण-संस्थाओं के द्वारा, जो मनुष्य की अन्दरूनी गढ़त (संरचना, mechanism) में समा गये हैं—वे मन-बुद्धि की क्रियाओं में, बहुधा शारीरिक भी हलन-चलन व कार्य-शैली में व्यक्त होते हैं, काम करने लगते हैं।

यह जैसी संस्कारित ऊर्जा है, वैसी एक संस्कारातीत ऊर्जा भी है—जिसे संस्कारों का स्पर्श नहीं हुआ है, जो संस्कारों से मर्यादित-सीमित नहीं हुई है, संस्कारों ने जिसकी चौखट नहीं बाँधी है। 'हिन्दू मन' 'ईसाई मन' 'मुसलमान मन' 'जैन या बौद्ध या सिख मन'—ऐसी किसी चौखट में वह ऊर्जा कभी नहीं आयी। वह मुक्त है। संस्कारमुक्त चेतना है। तो, चैतन्य एक ओर संस्कारयुक्त है दूसरी ओर संस्कारमुक्त भी है।

दोनों ही पहलुओं का सम्बन्ध किसी 'व्यक्ति' के साथ नहीं। वे 'किसी की' नहीं। इतना ही कि जब संस्कारयुक्त चेतना काम कर रही होती है तब संस्कारमुक्त चेतना को उसका भान रहता है, देखना चलता रहता है। वह द्रष्टृत्व की अवस्था है।

[उपनिषद् को भाषा में शायद यही बात यों कही गयी—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरेकः पिप्पलं स्वाद्वत्ति, अनश्नन् अन्योऽभिचाकशीति ॥]

अर्थात् एक ही वृक्ष पर दो पक्षी-मित्र बैठे हैं, उनमें से एक उस वृक्ष के फल को चखता है, दूसरा न चखता हुआ केवल देखता रहता है।]

हमारे मन में यह भ्रम बैठा है कि द्रष्टृत्व धारण किये हुए या उसका भी 'कर्ता' 'कोई' वहाँ होना चाहिये। अरे भाई यह साढ़े तीन हाथ की (५–६ फीट की) काया है—इसे 'कोई' 'हस्ती' (somebody, some indentity) भले कहिये; लेकिन इसके भीतर 'मन-बुद्धि-चित्त' नाम का भी 'कोई' होना चाहिये—यह मानने की क्या जरूरत है।

The whole human civilisation has taken a wrong turn in psyche centuries ago, in imagining that there must be an identity inside the body.

(सम्पूर्ण मानवजाति ने चैतसिक स्तर पर (बहुत पहले से ही) एक गलत मोड़ लिया है—यह कल्पना करने में, कि शरीर के भीतर कोई पृथक् व्यक्तिचेतना की हस्ती है।)

उसे अहंकार कहो, 'ego' कहो, 'जीव' कहो। उसको सँभालते-बचाते रहना; उसकी पसन्दगी-नापसन्दगी को महत्त्व देना, सुख-दुःख नाम से उसकी अनुकूल-प्रतिकूल प्रतिक्रियाओं की चिन्ता करना—इसी में तो सारी जिन्दगी निकल जाती है।

विषय शायद अपरिचित है, एवं लाखों वर्षों के संस्कार दृढ़ हैं, इसीलिये पूछा जाता है कि "द्रष्टृत्व अवस्था किसी की है?" वह तो भाई सत्ता की सहजता है।

The matter, which is solidified energies, the emptiness behind the energies, which contains the energies, & the intelligence permeating the emptiness.

(घनीभूत ऊर्जा यानी पदार्थ, इन ऊर्जाओं के पीछे स्थित शून्यता, जिसमें सब ऊर्जायें निहित हैं, और इस शून्यता को भी व्याप्त किए हुए जो प्रज्ञा है—) इनमें कोई विभाजन नहीं, कोई पृथक्ता नहीं, कोई अलग व्यक्ति-चेतनायें नहीं। संस्कारमुक्त सत्ता को आप वैश्विक चेतना कहना चाहें तो कहें, कोई हर्ज़ नहीं। उसे Supramental Consciousnes कहना चाहते हों, ब्राह्मी दशा कहना चाहते हों—कह लीजिये। मैं उसे कोई नाम नहीं दे रही हूँ। उसे केवल 'ऊर्जा' कह रही हूँ—'अनामिका ऊर्जा'। नहीं तो आप उसे ज्ञान की चौखट में बाँधना चाहेंगे और फिर उस पर 'मेरे-तेरे'-पन का आरोप करेंगे—"यह हमारी ऊर्जा है, यह उसकी ऊर्जा है।"

यह विभाजन धर्मों के नाम से, संस्कृतियों के नाम से हुआ है। मनुष्य जाति इस विभाजन को भुगत रही है। अध्यात्म में वह विभाजन चल नहीं सकता। द्रष्टृत्व आत्मा का शील है, इसका उपादान (Content—अर्थ में) कहिये! शब्द इतने सदोष हैं कि आत्मसत्ता की लक्षणा के लिये भी कोई शब्द प्रयोग करने का साहस नहीं होता। मनुष्य के मन में भ्रम खड़ा होता है कि "द्रष्टृत्व-साक्षित्व' भी मानो कोई गुण है, उन्हें धारण किये हुए 'आत्मा' कोई व्यक्ति है। शब्द पङ्गु हैं। इसीलिये आत्मा के लिए कहा गया है—

"यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह।"

द्रष्टृत्व जीवन की सहज अवस्था है, वह 'किसी' की नहीं। हमारे लिये (मन के स्तर पर) देखना एक क्रिया है; लेकिन वहाँ वह क्रिया नहीं, स्वभाव है। उसमें गति का आरोप न कीजिये। सूर्य है तो प्रकाश है न! सूर्य क्या प्रकाश 'देता' है? क्या प्रकाश 'देने' वाला वहाँ कोई है? भाषा में कहते हैं कि 'सूर्य प्रकाश देता है' वैसे 'परमात्मा सब देखता है।' यथार्थता यही है कि सूर्य प्रकाश देता नहीं, प्रकाश उसकी सत्ता है, ऊष्मा उस सत्ता में समायी हुई है। जैसे जल में शीतलता एवं प्रवाहिता समायी है। इसी तरह द्रष्टृत्व में 'कोई' 'देखता है' ऐसा भ्रम पदार्थसृष्टि के साथ रहते-रहते इसी अभ्यास के कारण हो गया है जहाँ दृश्य, देखने की क्रिया और देखने वाला—उन्हें पृथक् ही माना-

जाना जाता है। इस अभ्यास के कारण हम 'देखने' में क्रिया का और किसी 'देखने वाले' कर्ता का आत्मा में आरोप करते हैं, अन्यथा आत्मा तो सत्तामात्र है।

"भासे देहाध्यास से आत्मा देह समान।
पर वे दोनों भिन्न हैं जैसे असि अरु म्यान॥"

—(श्रीमद्राजचन्द्र–आत्मसिद्धि)

पृथक् व्यक्तित्व (identity) देह का है, आत्मा का नहीं। यह समझ में आ जाय कि आत्मा सत्ता है, व्यक्ति नहीं। वहाँ देश-काल का विभाजन नहीं, वह एक अविच्छिन्न सत्ता है। उसे 'विभु-प्रभु' 'सबका साक्षी' 'सब कुछ करने-कराने वाला' इत्यादि कहा—यह भारतीय संस्कृति की रसिकता है।

कवि ने "करकमल' 'मुखचन्द्र' कहा तो आप वहाँ कमल-फूल या चन्द्रमा-नक्षत्र तो नहीं खोजते! प्रतीकों में रसिकता है, काव्य है, अध्यास की भी वहाँ उपयुक्तता है, लेकिन उसे चरम सत्य (Ultimate Reality) तो नहीं माना जा सकता न! अध्यात्म का सम्बन्ध निपट सत्य से, ऋत से है।

"ऋतेन सत्यम् अभिषिञ्चामि"

(ऋत से सत्य का अभिसिञ्चन करते हैं।)

इसलिए मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार (एक ही ऊर्जा की चार अभिव्यक्तियों) के माध्यम ही अलग-अलग शरीर हैं। उस ऊर्जा का भान है आत्मसत्ता को, जो सब ऊर्जाओं को समाये हुए शून्य को भी व्याप्त किये हुए है।

प्रश्न—जब पूजा में बैठता हूँ तब आन्तरिक हलकापन और उड़ने की सी स्थिति का अहसास होता है, कुछ घबराहट भी होती है। अभी पूजा में बैठना कम किया है। इस स्थिति में अब मुझे क्या करना चाहिए।

वि०—भाई, आप क्या करें—यह कहने का तो मुझे अधिकार नहीं; किन्तु जो आपने कहा वैसा अहसास क्यों होता है उसके बारे में सहचिन्तन अवश्य किया जा सकता है।

आप पूजा-विग्रह के समीप क्यों बैठते हैं? आपने उन्हें सर्वव्यापी-सर्वशक्तिमान् प्रभु-परमात्मा का प्रतीक माना—उसके साथ सम्बन्ध

बाँधना चाहा, इसीलिये न ! अब वह सम्बन्ध कोई रक्तसम्बन्ध तो नहीं है न ! जैसे "ये मेरी माँ, मेरे पिता, मेरे सहोदर हैं"—कहते हो वहाँ दैहिक सम्बन्ध है। वैसा तो विग्रह के साथ नहीं। वहाँ शुरू में केवल भावनात्मक सम्बन्ध है—आप अपने भीतर भाव-काया-निर्माण करना चाहते हैं कि प्रभु तू मेरा, मैं तेरा ! इस प्रकार की एक तदात्मता पैदा करना चाहते हैं जो सभी सम्बन्धों में स्थिर रहे। भक्तियोग केवल भावना से नहीं बनता। वहाँ भावना की मदद से एक भाव नाम का द्रव्य निर्माण किया जाता है—

"मेरे तो गिरधर गोपाल, दूसरो न कोई।
जाके सिर मोरमुकुट, मेरो पति सोई।"

यह भाव-द्रव्य भावना, संवेग, आवेग (feelings, sentiments, emotions) से सर्वथा भिन्न है। भावनायें बहुत ही ऊपरी-सतही स्तर के स्पन्दन हैं। भावनाओं की चञ्चलता, अस्थिरता, को हटा कर उस उपादान से एक स्थिर भाव नामक द्रव्य का निर्माण आप करते हैं। भक्तियोग के अभ्यासी जानते हैं कि अष्टसात्त्विक भाव जागृत होते हैं। अष्टादश भावों की भी बात आती है जो महाभावदशा कहलाती है—जो 'राधा'-जी की अवस्था कही गयी, महाप्रभु गौराङ्ग में वह उपलब्ध था, अभी-अभी १०० वर्ष पहले श्री रामकृष्णदेव में वह प्रकट होता था। अल्मोड़ा के निकट मीरतोला में "उत्तरवृन्दावन" बना कर बैठे स्वामी श्रीकृष्णप्रेम (पहले श्री रोनाल्ड निक्सन) में भी वह सिद्ध हुआ था। बड़ा महत्त्वपूर्ण शब्द व द्रव्य है भाव।

इसीलिए, यदि आप को लगता है कि हल्केपन की या उड़ने जैसी अनुभूति होती है तो उससे घबराने की क्या बात है ? इन्द्रिय-स्तर की अनुभूतियों से अतीन्द्रिय अनुभूतियाँ अलग प्रकार की होंगी ही। प्रश्नकर्ता भक्तियोग के ग्रन्थ पढ़ें। उस पथ में शारीरिक-रासायनिक-मानसिक क्या-क्या परिवर्तन होते हैं उन्हें जान लें; क्योंकि आप अपने में नई ऊर्जा को जगा रहे हैं। वह ऊर्जा आप की आँखों में से देखेगी।—

जब नरसीभगत ने कहा होगा—

"अखिल ब्रह्माण्ड माँ एक तूँ श्रीहरि,
जूज्जवे रूपे वैकुण्ठ भासे।"

तब उनकी नज़र को क्या दिखता होगा ?—

"देह माँ तेज तूँ, तेज माँ तत्त्व तूँ,
शून्य माँ शब्द थई वेद वासे ।"

उन्हें ब्रह्माण्ड भी दिखता था, पूरे ब्रह्माण्ड में व्याप्त श्रीहरि दीखते थे, और ब्रह्माण्ड रूप में श्रीहरि ही हैं—यह भी दिखता था। वे धरती पर ही चलते थे।

भक्तिमार्ग से हो या अन्य किसी पथ से, मन के स्तर से आगे बढ़ने पर जब इनसे परे की ऊर्जायें जागृत होती हैं तो अनेक रासायनिक परिवर्तन मनः-शारीरिक दशाओं में अनुभूत होने लगते हैं। उनसे घबराना क्यों ? मौन-मार्ग में भी जब शून्य में प्रवेश होता है तो एक ग़ज़ब की शान्ति आप के रोम-रोम में प्रसरने लगती है; अनुभव आने बन्द हो जाते है, संकल्प-विकल्प की गति रुक जाती है, तब साधक घबराने लगता है कि "यह क्या हुआ ? मौन में बैठते हैं तो कुछ होता ही नहीं।" भाई कुछ होने के लिये तो मौन में नहीं गये थे न ! शून्य में जाना ही था। वृत्तियाँ निःशेष होनी ही थीं। पर जब शून्य का स्पर्श होता है, उसकी व्याप्ति प्रतीत होती है, तब घबरा जाते हैं। वहाँ देखने-सुनने-करने के लिये कुछ नहीं, जब कि ज़िन्दगी भर की आदत है कुछ न कुछ करते रहने की। वहाँ सब दिशायें लुप्त हैं—मन्तव्य नहीं, कर्तव्य नहीं, गन्तव्य नहीं, भोक्तव्य नहीं, हेय नहीं, उपादेय नहीं ! केवल एक अतल शून्य है। उस शून्य को धारण करना एवं उससे होने वाले रासायनिक परिणामों को सहन करना होता है।

ये सब अनुभूतियाँ बहुत लम्बी चलती नहीं है, हाँ, जब ऐसी अनुभूतियाँ आ रही हों तब कुछ समय के लिये आप अपने काम-धन्धे से छुट्टी लेकर अधिक से अधिक समय विग्रह के साथ बैठ कर उस दशा के वर्तुल (वृत्त या चक्र) को पूरा कर लीजिये। तब वे अनुभूतियाँ अपने आप शान्त हो जायेंगी। स्थिर जलाशय में आप पत्थर डालते रहें और चाहें कि लहरियाँ न उठें—यह कैसे हो सकता है ?

प्रश्न—मौन के विषय में कृपया विस्तार से कहियेगा ?

उत्तर—कल से वही तो किया जा रहा है जी !····हाँ, कल से कहे जा रहे सैद्धान्तिक पक्ष के अलावा आप शायद व्यावहारिक पक्ष जानना

चाह रहे हैं। मौन के दो पक्ष हैं—अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग। बहिरङ्ग है—न बोलना। लोगों को लगता है कि मौन का सम्बन्ध बाहरी वाणी से है, कहते हैं "मैंने मौन ले लिया"—यानी दो-चार घण्टे या चार-पाँच दिन मुँह से नहीं बोलेंगे! पर ऐसे (वैखरी यानी व्यक्त-शब्दाकृति वाणी से) नहीं बोलने का अर्थ यह नहीं कि आप मध्यमा स्तर से (मन ही मन) भी नहीं बोलेंगे। वाणी के चार स्तर हैं। अन्तिम दो—पश्यन्ती और परा स्तर पर तो मन का भी नियमन नहीं, इससे परे की चीज़ है वह। उसकी तो बात ही क्या की जाय! सामान्य रूप से तो वैखरी का भी पूरा मौन (शब्दों का—भाषा का किसी भी प्रकार से स्पर्श न करना) नहीं हो पाता है। ज्ञानेश्वर महराज ने तो कहा है—चारों ही वाणियों द्वारा जो कुछ होता है वह अविद्या का शृङ्गार है।

आप बाहर से नहीं बोलते—यह तो मौन का प्राङ्गण है, मौन का भीतरी घर यह नहीं। यह इतना ही है कि आप वैखरी वाणी को बाहर से समेट कर बैठे हैं; भीतर तो विचार चल ही रहे हैं, और विचार शब्दमय ही होते हैं; शब्द बिना विचार सम्भव नहीं। स्मृति दो प्रकार की है, ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक। उन शब्दों को, या चित्रों को आप देख रहे हैं, उनके प्रति कोई प्रतिक्रिया नहीं उठती—इसे भी मौन कहा जा सकता है। यह अन्तरङ्ग की ओर उठता कदम है। अभी यह मौन नहीं है। बहिरङ्ग का पूरा होना है कि बाहर से बोलना-देखना एवं करना समेट कर आप बैठे, भीतर चलते विचारों को केवल देखते रहे, उनके साथ कोई छेड़छाड़ नहीं की, उनमें दखल नहीं दी। यह मौन के द्वार तक पहुँचना हुआ।

मौन का अर्थ है चित्त में किसी भी प्रकार का सङ्कल्प-विकल्प न उठना। आसन पर बैठे हों—घण्टे दो घण्टे का समय लेकर, तब भी कोई संकल्प-विकल्प न उठे, विचार न उठे, और अपना दैनिक कार्य, आवश्यक सब व्यवहार कर रहे हैं, तब भी अनिवार्यता से अतिरिक्त कोई विचार, शब्दव्यापार चित्त में न चलें। 'मुझे यह चाहिए', या 'यह नहीं चाहिए'—ऐसा कुछ भी चित्त में न उठे। अर्थात् जीवन में पदार्थों के साथ, व्यक्तियों के साथ, घटनाओं व परिस्थितियों के साथ जो-जो सम्बन्ध आवें—उनमें प्रियता-अप्रियता की भावना न रहे।

जब आप प्रियता-अप्रियता का आरोप किसी वस्तुस्थिति पर करते हैं तब उसी में से सुख-दुःख का जन्म होता है। एक को आपने अनुकूल मान लिया, और दूसरे को प्रतिकूल कह दिया। बस इसी से भीतर कोलाहल हो जाता है। "प्रतिकूल को कैसे हटाऊँ ? उससे दूर कैसे रहूँ, कैसे बचूं ?" और, "अनुकूल को कैसे पकड़ रखूं; अधिक से अधिक उसको कैसे पाऊँ ? उसे कोई मुझ से छीन न लें !"—इसी फिराक में पड़ा रहता है चित्त। हाँ, शरीर को क्या अनुकूल-प्रतिकूल पड़ता है इसका ख्याल अवश्य रखना ही चाहिये; वह बाधक नहीं, अनिवार्य उपयोगी है। मन की अनुकूलता-प्रतिकूलता की बात कही जा रही है। इस प्रियता-अप्रियता में से राग और द्वेष पैदा होते हैं। इन राग-द्वेष के ज्वर से मुक्त होकर परिस्थितियों का सामना करना ही जीवन है—वासुदेव ने अर्जुन से कहा था—"युध्यस्व विगतज्वरः !"

"अर्जुन ! योग का सार है चित्त का समत्व !" कब ? गुफा में समाधि लगाये हुए नहीं ! विजनवास में नहीं। सम्बन्धों के घमासान द्वन्द्वों के बीच, संग्राम झेलते हुए, चित्त की समता रहना योग है। यश-अपयश, निन्दा-श्लाघा, मान-अपमान, सुख-दुःख, शीत-उष्ण सब द्वन्द्वों के बीच रहते हुए जब तेरा चित्त निर्द्वन्द्व रहेगा, तब जीवन योग-कर्म बनेगा।

चित्त की ऐसी सम अवस्था तब रहती है जब प्रियता-अप्रियता का आरोपण आप परिस्थिति पर नहीं करते हैं, व्यक्तियों और वस्तुओं पर भी नहीं। तब चित्त कहीं आसक्त नहीं होता, कहीं से विरक्त नहीं होता; सबके साथ समता-भरा व्यवहार चलता है। जो आवश्यकतायें हैं—अपनी, परिवार की, समाज की—उनके लिए समुचित कर्म कुशलता से, सावधानी से करें, पूरा पुरुषार्थ करें। लेकिन, पुरुषार्थ प्रामाणिकता से करने पर भी सफलता न मिले, तो वह मनुष्य हताश-निराश नहीं होता है; वह सोचने लगता है कि कमी कहाँ रही ? उद्यम में एकाङ्गिता रही ? अन्य कोई न्यूनता त्रुटि या चूक हुई ? वह सत्य का शोधन (खोज) करता है।

जिन सन्त के चरणों में बैठ कर हमने भूदान-यज्ञ का महागान सुना और उनके सुर में सुर मिलाने की कोशिश की, वे सन्त विनोबा

कहते थे—"ब्रह्म सत्यं, जगत् स्फूर्तिः, जीवनं सत्यशोधनम्"। ब्रह्म सत्य है, जगत् उस सत्य का उन्मेष है, स्फूर्त्ति है; इन दोनों का शोधन करना—इसका प्रत्यय पाना प्रत्यक्ष प्रतीति पाना ही जीवन है।

यही मौन का अन्तरङ्ग है कि चित्त में समत्व रहे और इन्द्रियों से सन्तुलित-सुयोग्य व्यवहार चलता रहे। चित्त में समत्व होता है तब इन्द्रियों द्वारा व्यवहार सन्तुलित ही होता है। उसके लिए विवेक का चाबुक नहीं चलाना पड़ता, सिद्धान्तों के 'हन्टर' नहीं चलाने पड़ते, आदर्शों का आकर्षण नहीं दिखाना पड़ता, यश या पुण्य का प्रलोभन नहीं देना पड़ता। इन्द्रियों का सहज सन्तुलित व्यवहार चित्त की समता (inner equanimity) का परिणाम (reflexion) है।

आपको बताया गया था कि मौन ध्यान की तरफ ले जाने वाला एक मार्ग है। जिस धरती पर हमारा आपका जन्म हुआ है, वहाँ की संस्कृति ने मनुष्यजीवन का लक्ष्य रखा है—'योगी भव !' योगावस्था-यानी चेतना का एक विलक्षण आयाम (a different dimension of Consciousness) है। उसकी ओर आगे बढ़ना जीवन का लक्ष्य कहा गया।

प्रश्न—विपश्यना में मौन व ध्यान के समय श्वास की गति की ओर लक्ष्य रखने को कहा जाता है। आप जो मौन का मार्ग बता रही हैं उसका विपश्यना से क्या अन्तर है ?

उत्तर—आप ही देख लीजिये न ! कि क्या अन्तर है ? मैंने तो विपश्यना का अभ्यास किया नहीं है। मैंने आपसे यही कहा था कि मौन में बैठना है तो उस समय मन द्वारा भी कुछ करना नहीं है। 'हम देखने बैठे हैं' ऐसा देखने का भी हेतु नहीं रखना। फिर भी जो विचार दिखें या स्मृतियाँ उभर कर सामने आने लगें तो वह दिखें भले ! 'दिखना' यही कर्म होता रहे, उसके साथ कर्तापन ('मैं देख रहा हूँ'—) न जुड़े। यहाँ 'श्वास पर ध्यान रखने' की संगति नहीं है, क्योंकि वह भी कर्ताभावपूर्वक होने वाली मानसिक क्रिया ही होगी। विपश्यना में वह उपयोगी होगी, उस पर मुझे कुछ नहीं कहना है, क्योंकि वह मेरा अधिकार नहीं।

प्रश्न— दिनचर्या इस तरह की रखें कि साधना में सहायक हो'— इस बार में कुछ सुझाव देंगो ?

उत्तर—दिनचर्या, ऋतुचर्या (प्रत्येक मौसम में दिन भर का अलग कार्यक्रम), जीवनचर्या में यदि अराजकता, अव्यवस्था, अनियमितता होगी तो साधक के जीवन में अनेकों विक्षेप आयेंगे। जब मर्जी हुई खा लिया, जब मर्जी हुई सो गये, जब मर्जी हुई घूमने चल दिये या गप-शप मे बैठ गये; जो जी में आया बोलते रहे, चाहे जैसी पुस्तकें पढ़ते रहे, रहने का कमरा जैसा-तैसा गन्दा-अव्यवस्थित पड़ा रहा—ऐसे खाने-पीने-सोने-बोलने-उठने-बैठने-रहने का कोई ठिकाना न हो—कोई लय-बद्धता सुरेखता न हो तो जीवनसाधना क्या होगी ? अध्यात्म को तो रहने ही दें एक तरफ, पर सामान्य जीवन भी ऐसी अराजकता-अव्यवस्था में कैसे चलेगा ?

साधक की दिनचर्या का पहला मुद्दा तो यही है कि पूरे दिन के कार्य-कलाप में सुव्यवस्था, नियमितता एवं रुचिकर लयबद्धता होनी चाहिय; नियमितता ऐसी कट्टर नहीं कि 'स्कूल का टाइमटेबल' लगने लगे। समझ-पूर्वक दिन-रात के २४ घण्टों का विनियोग करना चाहिए। जो दिन आपके सामने है वह शाश्वती का ही एक रूप है।

"आज का लाभ लीजिये जी ! कल किसने देखी ?"

सामने-वर्तमान के क्षण में ही शाश्वती सघनरूप में विद्यमान है। (The eternity is condensed in this very moment, now, today!) इसके सिवा आपको जीवन कहीं और नहीं मिलेगा। आज ही नकद है। इसलिये सुबह उठते ही जो २४ घण्टे आपको मुट्ठी में प्रभु ने जीने के लिय दे दिय ह—उनमें एक भी पल का प्रमाद न हो ! Either you meet eternity, or you miss it. एक-एक क्षण में सावधान रहते हुए सुव्यवस्थित रीति से कार्य करना चाहिये, जो भी करना हो। बेहोशी में लापरवाही स, अलगरज़ी से कुछ भी नहीं करना चाहिये। यह केवल साधना क लिय करना चाहिये या इससे साधना में मदद होगी—ऐसा नहीं; यह ता जावन का सम्मान है। जो आज है, अभी है, वही जीवन है। कल ता काल्पनिक है। 'कल' शब्द तो मनुष्य की बुद्धि की उपज है।

इसलिये, दिनचर्या व्यवस्थित-नियमित हो, आपके शरीर की प्रकृति तथा आजीविका के साधन के अनुरूप हो, ऋतु के अनुरूप हो—यह सब होना ही चाहिये, वह बहिरङ्ग है, पर दिनचर्या का अन्तरङ्ग है कि पल-भर का प्रमाद न हो।

"प्रमादो वै मृत्युः" सनत्सुजातीयसंहिता में कहा गया है। प्रमाद वस्तुतः धीमी गति से आत्मघात (slow suicide) ही है। प्रमाद यानी काम को टालते जाना आलस के कारण। जो अभी करना चाहिये उसे "घण्टे भर बाद करूँगा, कल कर लूँगा!" किसी न किसी अवान्तर कारण से ढकेलते रहना। जो अभी करना आवश्यक है वह करना या तो आपको पसन्द नहीं, या कोई समस्या आयी है, कोई अड़चन है, इसलिये करना टालना चाहते हैं। समस्या का सामना करने का साहस नहीं तो कहते हैं "बाद में देखेंगे; अगले महीने, अगले साल देख लेंगे।"—ऐसे प्रमाद में से आगे टालते जाना (postponement) आता है। यह जीवन का अपमान है।

प्रमाद से शरीर में व मन में आलस्य की स्थिति पैदा होती है। आलस्य का अर्थ है अलस होना। अलस यानी लसित (प्रकाशित) न होना यानी जिस अवस्था में आत्मा की द्युति (प्रकाश) धुँधली पड़ी हो, मानो आत्मा का दीपक ढका गया हो, सूर्य बादल से ढँक गया हो। और भी एक अर्थ है—प्राचीन संस्कृत में र और ल को बहुत बार समान माना गया है ('रलयोरभेदः') तो, अलस यानी अरस। जीवन में जिसको रस नहीं है। जो आज है, अभी है, उसमें जिसको रस नहीं है, और बीते हुए वर्षों—दिनों की स्मृतियों को मुँह में चगोलता—जुगाली करता रहता है। "मेरे साथ ऐसा हुआ!" "यह हो पाया, यह न हो पाया!"

(गुजराती—भूतकाल ने ममळावे छे, वागोळे छे हो!)

इसी में उसे इतना मज़ा आता है कि वर्तमान से सम्बन्ध छूट जाता है। वर्तमान अच्छा नहीं लगता, इसलिये छटककर भूतकाल की स्मृति या भविष्य की कल्पना में भटकता रहता है। यह प्रमाद ही है।

प्रमाद से आलस्य आता है, और आलस में शरीर व मन शिथिल पड़ जाते हैं (The whole biological & psychological system slows down,) शक्ति का क्षरण होता है; जीवन की ऊर्जा मन्द पड़

जाती है। इसलिये प्रमाद अपराध है। अध्यात्म कहता है जीवन श्रेष्ठ है, जीवन सर्वोपरि है, और जीवन जीने का कर्म ही प्रभु की पूजा है। प्रभु ने शरीर दिया, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ दी हैं,—यही उपकरण हैं, इन्हीं के द्वारा प्रभु की पूजा—अर्चना की जा सकती हैं—सम्बन्धों द्वारा, कर्मों द्वारा। अतः दिनचर्या में प्रमाद न हो।

प्रश्न—कर्मयोग एवं भक्तियोग का आप की दृष्टि में क्या स्थान है?

उत्तर—शायद पूछना चाहते हैं कि आपके देखे इनमें ऊँचा कौन, नीचा कौन? या किसका महत्त्व अधिक है?—किन्तु भाई! जीवन में ऐसे ऊँच-नीच के स्तर भेद (hierarchy, gradation) नहीं हैं! दोनों में 'योग' शब्द समान है। भक्तिमार्ग से योगावस्था में पहुँचना, और कर्म द्वारा योगावस्था में पहुँचना—यही दोनों का अर्थ है। भक्ति क्या वस्तु है?—एकनाथ महाराज के शब्दों में—

"पल भर भी जो नहीं विभक्त, वही जानिये भक्त।"

जिसका चित्त पलभर के लिये भी प्रभुसत्ता से विलग नहीं होता, वही भक्त है। वह फिर प्रभु का नाम ले या न ले; जप-पूजा आदि करे या न करे।

"नारायण जिनके हृदय में, सो कुछ कर्म करे, ना करे रे।"

प्रभुसत्ता का अनुसन्धान जिसके चित्त में सतत बना रहता हो वह बाहर से कुछ कर्म करता हुआ दिखे या न दिखे, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि मनुष्यजीवन का वास्तविक महान् कर्म तो उसके द्वारा हो ही चुका कि चेतना पर से अहं का वेष्टन (परदा, घेरा) हटा कर चित्त को प्रभुसत्ता से जोड़ दिया। वह महावीर बन गया। प्रभु में चित्त वैसा जुड़ जाना चाहिये जैसा नरसी भगत का जुड़ गया था, मीरा का जुड़ गया था।

"विष का प्याला राणाजी ने भेजा, पीवत मीरा हाँसी रे!"

यह पुराणों की कथा नहीं कह रही हूँ। ५०० वर्ष पहले का ही इतिहास है। इस देश की मिट्टी में ऐसा इतिहास अङ्कित है सङ्केतों के रूप में। हम उस इतिहास को पहचानते नहीं।

उन मीरा को, नरसी भगत को भक्तियोगी कहोगे या कर्मयोगी कहोगे? नरसी मेहता उच्च नागर ब्राह्मण; हरिजनों की बस्ती में

हरिकथा—कीर्तन में चले गये, इस पर नागर जाति ने बहिष्कार किया, राय माण्डलीक को शिकायत की, राजा ने बुलाया तो वहाँ भी चले गये। प्राणों पर आ बनी, पर सन्तसेवा के लिये ऋण लेने को गिरवी रखा हुआ केदार राग गाने की इच्छा न हुई।.....मीरा को महल छोड़ना पड़ा; तपस्विनी मीरा बेलाग निकल गयी। माण्डलीक के यहाँ नरसी भगत का चित्त विचलित नहीं और विष-प्राशन करते हुए मीरा को कोई विषाद नहीं।

मित्रो, दोनों मार्ग हैं। जिनका चित्त भाव-प्रधान है, बुद्धिप्रधान नहीं है, वे भक्ति में सगुण-साकार-रूप को पकड़ते हैं, नाम-गुण-लीला का गान करते हैं, भाव द्वारा ही निर्गुण-निराकार तत्त्व तक पहुंच जाते हैं; करताल बजाते-कीर्तन करते हुए नरसी भी देखते ही हैं—

"अखिल ब्रह्माण्ड में एक तू श्रीहरि !
नाना रूप में अनन्त भासे !!"

जो भक्ति जीयी जाती हो, वह अध्यात्म की मंजिल पर पहुँचेगी ही।.... कल स्वामी श्री "श्रीकृष्णप्रेम" का नाम लिया था। उन्हें उनके प्रेमी-सत्सङ्गी एवं मित्र लोग 'गोपालदा' कहते थे। एक बार 'गोपालदा' से मिलने कोई आये और भक्ति के बारे में प्रश्न किया। तब 'गोपालदा' ने कहा था—"भक्ति कोई क्रिया नहीं है रे ! भक्ति करने की वस्तु नहीं। भक्ति तो जीने का शील है; भक्ति जीयी जाती है।"

जिसका पिण्ड भावुक है, वह सन्तों के शब्दों का सेतु बाँध कर प्रभुसत्ता में तन्मय हो जाता है। उसे भक्त या भक्तयोगी कहते हैं। उसमें श्रेष्ठता-कनिष्ठता कैसी ? दूसरे कोई हैं जिनका स्वभाव सत्त्वप्रधान नहीं, रजोगुण-प्रधान है। कुछ कर्म किये बिना उनसे नहीं रहा जाता। वे कर्मयोग का रास्ता अपनाते हैं। मण्डाले की जेल में बैठकर लोकमान्य बालगङ्गाधर तिलक ने गीता पर भाष्य लिखा—"कर्मयोगरहस्य", और कौसानी-जेल में महात्मा गाँधीजी ने गीता का अर्थ लिखा—'अनासक्ति-योग'। और आठ सौ वर्ष पहले नेवासे (महाराष्ट्र) में एक बारह वर्ष के बालसन्त ज्ञानेश्वर महाराज ने गीता की व्याख्या की—"भावार्थ-दीपिका" नाम से नौ हजार ओवी-छन्द में गीता-भावार्थ कहा।

जिनका पिण्ड रजोगुण-प्रधान है, जिनके चित्त को कुछ न कुछ करने की माँग रहती है। उनके लिये जीवन-साधना का पथ है कर्मयोग।

चित्त को क्रिया प्रतिक्रिया में से उठा कर उदात्त करके, ऊर्ध्वगामी बना कर 'कर्म' में लगाया जाता है।

"परवश जानि हँस्यो इन इन्द्रिन, निजवश ह्वै न हँसैहों।"

इन्द्रियों के वश परवश होकर जो की जाती हैं—वे क्रियायें है। मन के आवेगों-आवेशों के वश होकर, क्रोध-ईर्ष्या-द्वेष-वैरभाव के वश होकर या आसक्ति-मोह-ममता-लोभ के वश होकर क्रियाओं में दिन-रात लगे रहा जाय, तो वे क्रिया-मात्र हैं, उन्हें 'कर्म' नहीं कहा जा सकता।

कर्म होता है स्वायत्त, स्ववश। कर्म की पद्धति क्या होगी ? उसका परिणाम क्या होगा ? उससे किसी का हित होगा या अहित होगा ?—यह सब देखा जाता है। कर्म हमेशा पूरे समाज के हित में, मानव-मात्र ही नहीं, सृष्टि या निसर्ग के भी हित में होता है। कर्म केवल 'बहुजन-हिताय बहुजन-सुखाय' नहीं 'सर्वोदयाय सर्वहिताय' होता है। सर्वोदय का मन्त्र है—

"सर्वे भवन्तु सुखिनः, सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्॥"

●

- क्रिया में रत होना कर्मयोग नहीं; इन्द्रियों व मन की गुलामी में जो कुछ होता है वह क्रिया है; वह अहंकेन्द्रित होती है। आत्मा में से, प्रज्ञा में से जो जन्म लेता है वह सम्पूर्ण कर्म है। अध्यात्म में क्रियासक्त जीवन नहीं रहता।
- मन और बुद्धि में क्रिया-प्रतिक्रिया ही सम्भव है, स्वायत्त कर्म नहीं। कर्म का जन्म समग्रता में से होता है। क्रिया में अंश का स्पन्दन है, और कर्म में समग्रता स्पन्दित होती है।
- अध्यात्म है आत्मनिर्भरता। दूसरे के बनाये रास्ते पर चलने में क्या मजा ? एक-एक कदम बढ़ाकर अपने लिये पगडण्डी बनाते चलने में ही आनन्द है।
- अध्यात्म नितान्त व्यक्तिगत विषय है। प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये खोज करनी है। जैसे दूसरे के लिये खाया नहीं जा सकता वैसे दूसरे के लिये सत्य को पाया नहीं जा सकता।

तृतीय प्रवचन

दि० १७-२-८९ समय—प्रातः ९-३०

पिछले दो दिन से हम जिस यात्रा पर चले हैं उसमें आप शामिल रहे हों तो आज और आगे साथ चलिये। सावधानता-पूर्वक शब्दों को सुनिये और वे शब्द जिस अर्थ की ओर संकेत कर रहे हों उस अर्थ को देखिये। सहयात्रा में चलते चलिये।

कल प्रभात में हमने यह देखा था कि ध्यानयोग के मार्ग में पहला कदम है देखने के कर्म का शिक्षण लेना। अपनी दिनचर्या में समय निकाल कर किसी शान्त स्थान में बैठ कर सब ऐच्छिक क्रियाओं को समेट लेना; जो अनैच्छिक क्रियायें और गतियाँ शरीर में चलती हैं, जो दिखती हैं, उनके साथ रहना। देखने का संकल्प और प्रयत्न किये बिना जो दिखता है वह भले दिखाई दे, उसे 'देखने' का आरोप 'अहं' नाम नाम के केन्द्र पर नहीं करना। अर्थात् "मैं देखता हूँ"—ऐसा आरोप उस गति पर नहीं करना। दिखने व देखने की जो एक अनुबन्धित गति अपने भीतर चल रही है, उसे बेरोकटोक-बेदखल चलने देना—यहाँ तक कल हम पहुँचे।

इस देखने के कर्म में, शरीर में भीतर नाड़ी-तन्त्र में, रसायन-तन्त्र में जो संस्कार पड़े हैं—ज्ञान के रूप में, अनुभूतियों के रूप में, मूल्याङ्कनों के रूप में, प्रतिक्रियाओं के ढाँचों के रूप में—वे सब या तो शब्द-रूप लेकर या चित्र-रूप में प्रकट होने लगते हैं। वह प्रकट होना दिखता है। उनकी यान्त्रिकता, दिन-प्रतिदिन पुनरावर्त्तित होते रहना, यह यान्त्रिक पुनरावर्तन भी दिखने लगता है। इसे देखते रहना है।

संस्कार क्योंकि अनादि नहीं हैं, अतः अनन्त भी नहीं हैं। ये मनुष्य जाति के बनाये हुए हैं। जीवन की प्राकृतता में से संस्कृतता की ओर जो यात्रा चली मानवजाति की, उसके चरण-चिह्न हमारे अस्थि-मज्जा-मांस-रक्तकणादि में अङ्कित हैं। अनादि और अनन्त न होने के कारण,

जब उन संस्कारों का प्रकट होना, उनकी अभिव्यक्ति, उनका खुल कर सामने आना (exposure) होने दिया जाता है, उसमें कोई रोक-टोक-दखल नहीं की जाती, तब उन सादि-सान्त संस्कारों का दिखना स्वयं ही शान्त होता है। तब भीतर के मौन आयाम का, शून्यावस्था का, निरभ्र (बादलों से रहित) आकाश जैसी अपनी स्थिति का उद्घाटन होता है।

इसी तथ्य को आज एक दूसरे दृष्टिबिन्दु से देखेंगे। अब तक हमें यह सिखाया गया कि इस शरीर के भीतर एक 'मैं' नाम की हस्ती है। 'ego', 'self', 'me', 'जीवात्मा', 'अहं' ऐसे नामों से उसकी व्यक्तिता कायम की गयी है। उस पर से 'व्यक्तित्व' की मान्यता पक्की हुई है। शरीर के भीतर एक 'मैं हूँ', 'मेरा व्यक्तित्व है', 'एक अलग हस्ती हूँ मैं'—यह मान्यता अत्यन्त दृढ़ है, और उसी पर सारे सम्बन्ध आधारित हैं। उस 'अहं' के सुख-दुःख, उसके मान-यश या अपमान-अपयश को सँभालते-सँभालते जिन्दगी निकल जाती है।

यहाँ कहा जा रहा है कि देखने के कर्म में वह 'मैं' नाम की गाँठ खुल जाती है, 'अहं' के व्यक्तित्व का आभास मिट जाता है, 'जीव' की कोई अलग हस्ती नहीं रहती—तो मनुष्य को भय लगता है कि 'मैं' ही न रहा तो फिर क्या होगा ? वह जो केन्द्र है, जहाँ से सारी गतियाँ (देखना, सुनना, बोलना, रस लेना, सूँघना, स्पर्श करना, सुख-दुःख का अनुभव करना, भावनायें, आवेग, संवेग, प्रतिसाद, संवेदन लेना, देना, इत्यादि) चलती हैं, वह केन्द्र ही यदि समाप्त हो जाय, 'अहं' ही नष्ट हो जाय, विगलित हो जाय तो जीवन का क्या होगा ?

अनेक दृष्टिबिन्दुओं से उस तथ्य को, सत्य को देखना चाहिए, ताकि निर्ग्रन्थता का भय निकल जाय। जिन लोगों ने सन्तसाहित्य का अध्ययन किया होगा, सन्तचरित पढ़े-सुने होंगे, उनके ध्यान में आया होगा कि जिनके जीवन में 'सन्तत्व' सिद्ध हुआ, योगावस्था परिपक्व हो गयी, ज्ञान बोध बन कर प्रदीप्त हो उठा—चमकने-झलकने लगा,—वे सन्त चाहे जिस देश के, चाहे जिस जाति के, वंश के, चाहे जिस धर्म-सम्प्रदाय के हों, उनके जीवन में एक चीज अवश्य देखने में आती है, जिसे रूढ़ भाषा में निरहंकारिता कहते हैं। उनके पास अहङ्कार

बिल्कुल नहीं होता। वेदकाल से लेकर अब तक का इतिहास इसका साक्षी है।

प्रसिद्ध है ब्रह्मर्षि वसिष्ठ एवं विश्वामित्र की कथा, कि विश्वामित्र ने क्षोभ के कारण वसिष्ठ के पुत्रों को मार डाला था। वसिष्ठ ब्रह्मर्षि थे, विश्वामित्र क्षत्रियकुल में से आये थे अतः राजर्षि कहलाते थे पर 'ब्राह्मण' 'ब्रह्मर्षि' होने की उन्हें तीव्र अभिलाषा थी। पुत्रों को मारने के बाद अष्टमी की रात्रि में विश्वामित्र खड्ग हाथ में लिए वसिष्ठ-कुटी के पास घूम रहे हैं। भीतर वसिष्ठ-अरुन्धती का संवाद चल रहा है। अरुन्धती कहती है—'अष्टमी के चन्द्र का यह तेज कैसा सौम्य-स्निग्ध-आह्लादक है ?' वसिष्ठ उत्तर देते हैं—'हाँ आर्ये ! जब विश्वामित्र का क्रोध शान्त होगा, तब ब्रह्मर्षि विश्वामित्र के मुखमण्डल का तेज जैसा सौम्य-स्निग्ध-आह्लादक होगा—वैसा ही आज इस चन्द्र का आलोक है।'....वसिष्ठ ऋषि के चित्त में—स्वर में—शब्दों में कहीं क्रोध का लेश नहीं है, उद्वेग नहीं है, घायल अहङ्कार की फुंकार नहीं है।....विश्वामित्र ने वह सुना; खड्ग गिर गया हाथ से; आकर वसिष्ठ के चरणों में पड़े। तब वसिष्ठ उनका हाथ पकड़ कर कहते हैं—'उठो ब्रह्मर्षि !'—

यह निरहंकारिता है। वसिष्ठ से लेकर आप वर्तमान काल तक चले आइये; ज्ञानियों में, सन्तों में अहङ्कार नहीं देखा जाता। हमारा बचपन बीता महाराष्ट्र में—विदर्भ में। वहाँ एक सन्त रहते थे—तुकड़ोजी महाराज ! हमारे परिवार से, नानाजी से लेकर हम तक उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। उन सन्त तुकड़ोजी की युवावस्था की बात है। चन्द्रपुर (चान्दा जिले) में, वहाँ के सबसे अधिक धनी एवं प्रतिष्ठित व्यक्ति के यहाँ एक बार महाराज अतिथि थे। ये जब वहाँ पहुँचे थे तब किसी कारण से घर के मालिक उन सज्जन को कहीं बाहर जाना पड़ा था। घर में केवल गृहिणी थीं। इस पर, संयोगवश रात में कोई और अतिथि आये। वे भी कोई धनी-मानी व्यक्ति थे। उन दिनों घर की महिलायें परदे में रहती थीं, बाहर नहीं निकलती थीं। तुकड़ोजी महाराज ने देखा कि अतिथि आये हैं, बाहर आये। इनका बदन खुला था, केवल ऊँची धोती पहने हुए थे। अतिथि इन्हें पहचानते नहीं थे। उन्होंने समझा कि घर का नौकर है। बोले कि 'जाओ गाड़ी खोलो,

बैलों के लिए चारे की व्यवस्था करो !' 'जी हाँ' कहकर महाराज दौड़े, सब कर दिया। फिर घर में जाकर उनके लिए भोजन की थाली परोस कर ले आये, उन्हें बैठाया, भोजन परोसा। बाद में हाथ-मुँह धोकर वे अतिथि लेट गये तब इनसे बोले "ए भाई, तू बड़ा अच्छा सेवक मालूम पड़ता है। मेरा शरीर आज बहुत थक गया है, जरा बदन दबा देगा ?" महाराज उनका बदन दबाने लगे; खूब अच्छी तरह सेवा की। वे अतिथि-सज्जन भी आये थे महाराज के दर्शन के लिये ही, पर पहले कभी देखा नहीं था। घर में भीतर गृहिणी आकुल-व्याकुल थीं (कि इन्हें भोजन की थाली बाहर ले जानी पड़ी, फिर जूठी थाली लानी पड़ी—इसी से। और तो कुछ जानती भी न थीं;) पर करें क्या ? लाचार थीं। सुबह चार बजे उठ कर महाराज ने गृहिणी से कहा—'बहन, मैं अभी यहाँ से चला जाता हूँ, क्योंकि सुबह घर के मालिक आयेंगे तब इन सज्जन को पता चलेगा कि जिनके दर्शन के लिये आये थे उन्हें सेवक समझ कर सेवा कराई है, तो ये बड़े लज्जित होंगे। इनकी लज्जा मुझे देखनी नहीं है, इसलिए मैं भाग जाता हूँ !'—और महाराज भाग ही गये।

जिस सन्त के दर्शन के लिए सैकड़ों मीलों से लोग जाते थे, उनकी यह सरलता थी। अनेकों वर्ष मेरा उनसे निकट-सम्बन्ध रहा, १९६८ में उन्होंने महाप्रयाण किया तब तक ! सब अवस्थाओं में उन्हें देखा; अहङ्कार या क्रोध का लेश भी देखने में नहीं आया। बहुत बड़ी उनकी संस्था थी—'गुरुदेव-सेवामण्डल'; उसकी बारह हजार शाखाएँ चलती थीं; १०१ व्यक्तियों का व्यवस्थापक मण्डल था, २१ व्यक्ति कार्यकारिणी समिति के सञ्चालक थे, सब काम (देश-हित, ग्राम-हित, समाज-हित के सेवा कार्य) महाराज चलाते थे। लेकिन अहङ्कार क्या होता है, मान-अपमान या क्रोध क्या होता है—यह उनके जीवन में कभी देखा नहीं गया। उनको मैंने राष्ट्रपति भवन में भी देखा है राजेन्द्रबाबू के साथ; बहुत प्रवास किया है उनके साथ छोटी उम्र में, क्योंकि मेरे मामा उनके परम भक्त थे। ऐसे अनेक उदाहरण मैं आपको दे सकती हूँ—आनन्द-मयी माँ के, स्वामी सीतारामदासजी (मण्डला के श्रेष्ठ हठयोगी) के, कन्नौज के गौरीशङ्कर महाराज के, (वे रामकृष्णदेव के उपासक थे); बचपन में सत्सङ्ग के सिवा कुछ किया ही नहीं।

कहना यही है कि अहङ्कार नाम का जो ग्रन्थि है वह घुल जाता है भक्ति में या गल जाता है ज्ञान में या राजयोग में पिघल जाता है। अन्दर कहीं कोई केन्द्र नहीं रह जाता 'अहं' नाम का, जहाँ से सम्बन्ध बने, दरस-परस हो। व्यक्ति की समग्रता ही द्रव्य बन जाती है, जो द्रष्टृत्व समाया है समग्र अस्तित्व में, वही दशेन्द्रियों में से काम करने लगता है। वहीं से समस्त प्रतिसाद उठता है। देखने में व्यक्ति वही रहता है, खाना-पीना-पहनना-समाज में रहना वैसा ही चलता है; लेकिन उनके दर्शन की गुणात्मकता बदलती है। सम्बन्धों के आधार बदलते हैं। आखिर यही तो हम चाहते हैं ?—Transformation in the quality of Consciousness & transformation in the dynamics of relationships. इसी में से तो नया मानव खड़ा होगा और नया समाज बनेगा।

मौन के रास्ते पर अब क्या होता है जब देखने और दिखाने का कालखण्ड पूरा हो जाता है ? अभी तक तो सुबह से रात तक कर्ता-भोक्ताभाव एवं क्रियाप्रतिक्रियाओं का यान्त्रिक पुनरावर्तन ही चलता था। उसमें से हट गये जब मौन के लिए बैठने लगे। अब "मैं देखता हूँ"—यह भी चला गया केवल 'दिखना' शेष रह गया। इस देखने की जो ज्योति है (the reflexion of bare cognition, the flame of pure attentiveness) किन शब्दों में कहूँ ? कोई भी शब्द लूँ तो उसकी छटाएँ (shades) समाधान नहीं देतीं। एक ऐसी 'दर्शन' की (देखने-मात्र की) अवस्था रहती है जिसमें 'द्रष्टा' नाम का केन्द्र नहीं, और ज्ञान व अनुभूति नाम का परिधि नहीं है। वह दर्शन की अवस्था क्षितिजों से और केन्द्र से मुक्त है, वही रह जाती है। याने क्या होता है ? इसे अब देखेंगे।

यदि यह मौन सिद्ध हो जाय तो अपने साथ क्या होता है यह देखें। वर्णन तो बहुत देख लिये, किन्तु वर्णन वस्तुस्थिति नहीं हैं। (The word is not the thing) एक कागज़ पर दस बार 'अग्नि-आग-fire-आगुन.....' लिखो, वह कागज़ पढ़ते हुए रूई के ढेर पर डाल दो, तो वह रूई जल नहीं उठेगी। क्योंकि (वैखरी स्तर के) अग्नि शब्द में उष्णता और प्रकाश व दाहकता नहीं हैं, वे तो अग्निपदार्थ (वास्तविक अग्नि-वस्तु)

में हैं। इसलिये मौन में स्थिति होने पर अपने साथ जो वास्तविकता घटित होगी—उसको देखें।

हमारे देखने में आया कि अपने भीतर जो ज्ञान व अनुभूति के संस्कार हैं—शब्दरूप एवं चित्ररूप धारण कर के जो अनैच्छिक क्रिया-कलाप (विचार) के रूप में सामने आते हैं, उनकी अपनी एक गति है। हम उन्हें गति नहीं देते। हम विचार करते नहीं, विचार चलते रहते हैं, विकार उठते रहते हैं। और ये सदियों से मनुष्य के शरीर में चलते रहे हैं। तमाशा यह है कि जो विचारों-विकारों की धारा पूरी मनुष्यजाति में आदिमानव से लेकर आज तक चलती रही, जो देखी गयी, उसमें हम एक अध्यास जोड़ते हैं, एक कल्पना जोड़ते हैं, पक्की मान्यता बना लेते हैं कि ये विचार चलते हैं इसलिए इनके पीछे कोई 'विचार करने वाला' होना चाहिए।

(Because there is a movement of thought, & the thought-structure incorporated in the neuro-chemical system of the body, we impose & imagine a thinker along-with the stream of thought.)

वास्तविकता यह है कि विचारों का प्रवाह है। उसकी अपनी गति है। लेकिन क्योंकि हमें आदत है बाहरी सृष्टि में यह देखने की कि कर्म के साथ कोई कर्ता होता है, क्रिया के साथ कोई क्रिया करने-कराने वाला होता है, अतः भीतर जो यह विचारों-विकारों की धारा चल रही है, तो इसे चलाने वाला कोई होना ही चाहिये। ज्ञान का प्रवाह भीतर समाया है, और ज्ञान होता चलता है, इसलिये हमने अध्याहार मान लिया—अध्यास कर लिया कि कोई ज्ञाता भीतर है ही।

(Alongwith the movement of thought, we create an entity called the thinker, alongwith the movement of knowledge in you, you imagine and create a crystalised identity of a knower.)

स्थूल जगत् में, पदार्थों की सृष्टि में, हाड़-मांस के देह के साथ रहते-रहते यह मान लिया है कि एक व्यक्तित्व की हस्ती है भीतर। क्रियायें करती हुई स्थूल आकृति दिखती है न! इसलिये ज्ञान और विचार

के साथ भी वही 'करने वाले' का सम्बन्ध जोड़ कर मान लिया गया है कि कोई 'ज्ञाता' या 'विचारक' भीतर है। विकार हैं तो कोई 'विकारी' व्यक्ति वहाँ है—ऐसी प्रतिमा आप-हम गढ़ते चले जाते हैं व्यक्तिगत रीति से, और समाज सामूहिक रीति से प्रतिमायें गढ़ता है, रात-दिन प्रतिमा-निर्माण का धन्धा (image-making profession) चल रहा है। "मैं गुणवान् हूँ, मैं धनवान् हूँ, मैं विद्वान् हूँ, मैं सुरूपवान् हूँ" या "मैं कुरूप हूँ, मैं ग़रीब हूँ, मैं अभागा हूँ!" —ऐसी प्रतिमायें हम गढ़ते जाते हैं और उन्हें स्मृति में सँजो कर रखते हैं। 'अहं' और कुछ नहीं है, उन सब प्रतिमाओं का एकत्र पुञ्जीकृत घनीकृत रूप ही है (an emalgamation of all those images put together)। फिर समय ने सिखाया है, समाज ने सिखाया है, संगठित-साम्प्रदायिक धर्मों ने सिखाया है, शिक्षा संस्थाओं में भी सिखाया गया है कि किस समय कौन-सी प्रतिमा बाहर निकालें। (How & when to project which image, in which relationship) वैसी-वैसी प्रतिमाओं के मुखौटे पहने व्यवहार चलाते रहते हैं। मान ही लिया है कि 'मैं' नाम का कोई व्यक्ति भीतर है, उसके इतने रूप हैं।

आपने मान लिया कि "मैं ज्ञानी हूँ, विद्वान् हूँ"—और कुछ बोलने लगे। सुनने वालों ने उसकी क़दद्र नहीं की, बल्कि उपेक्षा की, अवहेलना की। तो ठेस लगी आप को, कि "मैंने इतने ज्ञान की बातें कहीं—उसकी कोई क़द्र नहीं हुई"; या "मैंने इतना प्यार उँडेला, उसे कोई प्रतिसाद नहीं मिला।" खुद ही तो अपनी प्रतिमा बनाई कि "मैं ज्ञानी हूँ, मैं प्रेमी हूँ, मैं सज्जन हूँ....." फिर यह आशा रखी कि "मेरी बनायी इन प्रतिमाओं का सब ऐसा ही स्वीकार करें! मैं जैसा चाहता हूँ वैसा प्रतिसाद सब दें!" वह नहीं मिला, दूसरों ने कुछ विपरीत ही किया तो ठेस लगती है, दुःखी हो जाते हैं। टूटती है प्रतिमा, और हम मानते हैं कि प्रहार हम पर हुआ है, हम आहत-पाड़ित हो जाते हैं।

इस तरह सम्बन्धों के नाम पर प्रतिमा-प्रक्षेपण का खेल चलता है। एक दूसरे के सामने अपनी प्रतिमायें रखते जाते हैं, आपका कौन-सी प्रतिमा पसन्द आयेगी इसका मैं अन्दाज लगाती हूँ। माता-पिता के

सामने अलग प्रकार की, भाई-बहनों-मित्रों के सामने अलग प्रकार की, पति या पत्नी के सामने अलग प्रकार की, राजनीतिक सम्बन्धों में अलग प्रकार की, उद्योग-व्यवसाय-धन्धे में साथियों और प्रतिद्वन्द्वियों के सामने अलग प्रकार की प्रतिमायें रखते जाते हैं फिर ये प्रतिमायें एक-दूसरे से सङ्गत हों यह आवश्यक नहीं समझते, इसका ख्याल नहीं रखते। ये परस्पर विसंगत या विरोधी भी होती हैं।

जिसको आप 'मेरे विचार' 'मेरी मान्यतायें' 'मेरे आदर्श' कहते हैं, उस "मैं" की कोई तथ्यता (factual entity) नहीं हैं। यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि "मैं" की कोई वास्तविकता नहीं है। जैसे शरीर एक तथ्य है, यह व्यक्त है, इसे स्पर्श किया जा सकता है, इसमें घनता (solidity) है, रंग है, रूप है, गुण हैं, आकार है—इत्यादि सब "है"। इसलिए उसका व्यक्तित्व है यह माना जा सकता है; हालाँकि (वस्तुतः तो) उनका भी अस्तित्व सापेक्ष है; निरपेक्ष अस्तित्व इस सब का भी नहीं है। लेकिन भीतर जिस "मैं"-पन (अहन्ता) की आप ने कल्पना की है, उसकी वास्तविकता क़तई नहीं है (It has no factual existence whatsoever! It has only a conceptual existence) केवल कल्पना में उसका अस्तित्व है, भावनात्मक अस्तित्व है, प्राकृत तथ्यरूप अस्तित्व उसका नहीं है। इसे भलीभाँति समझ लेना चाहिये।

मौन में यह प्रतिमा बनाने का धन्धा बन्द हो जाता है, और बनी हुई सब प्रतिमायें चूर-चूर हो जाती हैं। एक भी शेष नहीं रहती। यही तो निरहङ्कारिता है, कोई केन्द्र बचता ही नहीं है। "मैं" नाम का केन्द्र नहीं रहता। देह में जो पुरुषत्व या स्त्रीत्व है, जो जीवन-कर्म प्राप्त है उसका उचित सम्मान होगा; उसके लायक सुभग, सुन्दर व्यवहार होगा। यदि हिन्दू घर में पैदा हुए हैं तो हिन्दू पद्धति से जीवन चलेगा, मुस्लिम घर में जन्म हुआ है तो इस्लाम के ढङ्ग से जिया जायेगा। जैन-बौद्ध-सिख-ईसाई आदि जिस भी परम्परा के संस्कार लेकर शरीर मिला होगा उन-उन संस्कारों का मानवता की मर्यादा में, जीवनसत्ता की अखण्ड एकता की मर्यादा में समुचित सन्मान अवश्य होगा; जीवन-शैली उन संस्कारों के ढाँचे के अनुरूप होगी। पर उन संस्कारों की भी मर्यादायें पहचानी जायेंगी; उनका रूप, उनकी शैली, उनकी मर्यादायें

दूसरों पर ज़बर्दस्ती थोपने का आग्रह चित्त में नहीं होगा। जो पहले से संचित है, जो यान्त्रिक पुनरावर्तन-रूप है, उसका आग्रह भला क्या रखना? उसका यथास्थान सन्मान रखते हुए, उसकी मर्यादा में, जहाँ उसकी संगतता है, वहाँ वैसा व्यवहार अवश्य होगा। यहाँ भारत में या कहीं भी किसी भारतीय से मैं मिलूंगो—वह व्यक्ति आयु में बड़ा होगा तो झुककर प्रणाम करूँगो। यह तो नहीं कहूँगो कि आत्मा समान है, हम सब समान हैं, इसलिये झुकने में अपमान होगा। वह तो नम्रता का एक संकेत है। ऐसे ही कोई छोटी आयु का व्यक्ति—बालक—युवक सामने आयेगा तो उसे आशीर्वाद भी दूँगी, सिर पर हाथ रखूँगी। वात्सल्य के संकेत प्रकट होंगे। संकेतों को उड़ा दीजियेगा तो जीवन में कोई काव्य नहीं रहेगा, कोई सौन्दर्य नहीं रहेगा। यदि मैं आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलेन्ड में हूँ तो Shake hand भी करूँगी, तब यह कहकर हाथ पीछे नहीं खींच लूंगो कि "हम हिन्दू लोग हैं नमस्कार ही करेंगे, हाथ नहीं मिलायेंगे।"

"अनाग्रहो नाम प्रथमं बुद्धिलक्षणम्"

यह भली-भाँति समझ लेना है कि 'अहं' नाम का केन्द्र अवास्तविक है, काल्पनिक है, मान्यता-मात्र है। यह समझ में आते ही आपके व्यवहार में एक मूलगामी परिवर्तन आ जाता है, सब प्रकार के आग्रह छूट जाते हैं। यह जैसे ध्यान में आया कि 'मैं' self-ego का अस्तित्व केवल भावनात्मक, कल्पनात्मक है, यह मनुष्य जाति की उपज है, संस्कृति का अङ्ग है, व्यवहार चलाने की एक व्यवस्था-मात्र है; यह सिद्धान्त या तत्त्व नहीं है; वैसे ही दूसरी प्रतिमाओं की ओर चलिये। दूसरी प्रतिमा मनुष्य ने बनाई है काल के नापों की। घड़ी बनाई दिन और रात को २४ घण्टों में बाँटा. उसमें भी दिन के और रात के १२-१२ घण्टे अलग किये, उनकी गिनती की आधी रात से आधे दिन तक। "सुबह के सात बजे हैं" "शाम के आठ बजे हैं" "कल दस बजे सुबह मिलेंगे!" यह "बजना" क्या चीज़ है? आप सेकन्ड-मिनिट-घण्टे-दिन-सप्ताह-महीने-वर्ष आदि गिनती करते हैं—समय को नापते हैं, पर जीवन की सत्ता में क्या ऐसी कोई गिनती है? वहाँ कोई गणना-कलना नहीं। आपने अपनी सुविधा के लिये, जीवन के क्रिया-विभाजन के लिये, मुक्त अखण्ड

सनातनता, शाश्वती में 'काल' नाम का एक अध्यास पैदा किया। समय को भी खण्डों में बाँटे बिना—फिर उनकी गिनती किये बिना आपका सामाजिक व्यवहार नहीं चल सकता न। इसलिये काल और उसके विभिन्न नाप-मान की कल्पना खड़ी की। उनका अस्तित्व मानसिक ही है वस्तुगत नहीं। काल व उसके नापों की कल्पना को ही दृढ़ किया—तिथि, वार, सप्ताह आदि तथा घड़ी, केलेन्डर आदि बनाये।

इनका जीवन की सत्ता से तो कोई सम्बन्ध नहीं। जैसे 'मैं' पन 'अहं' की हस्ती भावनात्मक या काल्पनिक है, वैसे ही 'काल' और उसके नापों की भी। काल्पनिक होने पर भी इन्हें फेंक नहीं दिया जा सकता। किन्तु इनकी अवास्तविकता, भावनात्मकता, काल्पनिकता पहचाने रहने से दृष्टि एवं व्यवहार अवश्य बदलता है। जैसे सूर्योदय एवं सूर्यास्त की कल्पना है। सूर्य तो जहाँ है—जैसा है—हमेशा वहीं और वैसा ही है; पृथ्वी की गति के कारण पृथ्वी के भागों पर सूर्य का दिखना बदलता रहता है। इसी घटना या वस्तु-स्थिति या तथ्य के आधार पर हमने सूर्य से अपना सम्बन्ध एवं उसके अनुसार व्यवहार का कार्यक्रम बनाया। जब रात्रि के बाद पहली बार सूर्य दिखा—उसे 'सूर्य का उदय' कहा, वह सूर्य जब हमारे मस्तक के ऊपर सीध में दिखने लगा उसे 'मध्याह्न' कहा, सूर्य का ताप और प्रकाश की प्रखरता कम होती चली उसे 'धूप ढलना' कहा, और जब हमारी आँखों से सूर्य-बिम्ब ओझल हुआ, तब कहा 'सूर्य अस्त हुआ'। वास्तव में सूर्य का न उदय है, न चढ़ना, न ढलना, न अस्त होना है।

समय का माप और गिनती मनुष्य की बनायी व्यवस्थामात्र है, उसकी वस्तुतः जीवनसत्ता में कोई वास्तविकता नहीं। आप जानते ही हैं कि धरती के स्थानों के अनुसार घड़ी के समय भी बदलते हैं, एक ही समय अलग-अलग स्थानों की घड़ियाँ अलग-अलग 'बजाती' हैं। दिन-रात-तिथियाँ तक बदल जाती हैं क्योंकि पृथ्वी-गोलक घूमते हुए सूर्य के सम्मुख आता रहता है। और गति का आरोप किया जाता है सूर्य पर। काल की कल्पना, उसकी कलना-गणना सब देश-सापेक्ष है, काल का विभाजन मनुष्य ने अपने व्यवहार की सुविधा के लिए कर लिया है—उसमें भूत-वर्तमान-भविष्य, फिर परोक्षभूत और सुदूर

भविष्य भी बनाये हैं। जीवन में 'बीता हुआ' (अतीत) क्या और 'होने वाला' (भावी) क्या ? इन दोनों की तुलना में जिसे 'वर्तमान'—'आज' 'इस समय' कहा जाता है वही यानी सामने का क्षण ही जीवन की शाश्वती का प्रतीक है। मनुष्य को पशुओं की तरह रहना नहीं था, इसलिए समाज व संस्कृति बनायी, धारणाओं के कुछ प्रतीक बनाये। उन्हें सीखा-सिखाया। उसके अनुसार समाज चलता है।

जीवन की सत्ता अकाल-अखण्ड है। गुरुद्वारों में सिख गाते हैं—

"इक ओंकार सतनाम अकाल पुरुख निरभै निरवैर !"

वहाँ परमात्मा को 'अकाल पुरुष' कहा गया। काल की सत्ता या अस्तित्व केवल मनुष्य के मन में है। जीवन कालमुक्त है (Timeless) यह भान हो तो मनुष्य को भय सतायेगा नहीं। क्योंकि समझ में आ गया कि 'घड़ी' प्रतीक-मात्र है, काल-कलना-समय के विभाग और गणना मानसिक-काल्पनिक व्यवस्थामात्र है; जीवन काल के परे है, जीवन की सत्ता 'अकाल' है, कालातीत है।

मैं आप से संवाद के लिये जो भाषा का उपयोग कर रही हूँ—यह भाषा भी प्रतीक ही है। शब्द अर्थों के प्रतीक हैं—यह शब्द और अर्थ की व्यवस्था व सम्बन्ध भी मनुष्य-कृत हैं। हमने भाषा बनायी, शब्द-कोष बनाये। ये शब्द किसी एक देश में एक अर्थ में बोले जा सकते हैं। अन्य भाषाओं वाले स्थान पर यही भाषा नहीं बोली जा सकती। भारतीय भाषाओं को पश्चिमी देश या सुदूर पूर्वी देश, या अन्य द्वीपों के लोग नहीं समझ सकते; भारत में ही चारों दिशाओं की जनभाषाओं को परस्पर अन्य प्रान्तों के सामान्यजन नहीं समझ पाते। यहाँ तो हर चार कोस (१० कि० मी०) पर बोली बदलती है—इतना भाषा का वैभव है। वाणी की 'करेन्सी' (शब्द, भाषा) सब जगह अलग-अलग है, एक का चलन दूसरों में नहीं।

शब्द या भाषा प्रतीक-मात्र है कहने से काव्य का या सभी प्रकार के वाङ्मय का महत्त्व कम नहीं हो जाता। वह अपनी जगह, जीवन को लालित्य का, सौन्दर्य का, समृद्धि का वरदान देते हुए रहेगा। वह प्रतीक है यह समझने से यही पता चलेगा कि शब्द, भाषा मनुष्य

निर्मित है। (By engineering the sound, you created words, & by manoeuvring the words you created languages.) यह तो मानवीय ऐश्वर्य है। लेकिन यह मान लेना गलत होगा कि शब्द में जो कहा जाता है वही सम्पूर्ण सत्य है, और जिन शब्दों में कहा गया वे ही सत्य हैं।

इसी से तो तथाकथित धार्मिक झगड़े खड़े होते हैं कि 'हमारे वेदों में जो कहा गया वही श्रेष्ठ है', 'कुराने शरीफ में कहा गया वही सत्य है!' बाइबिल में कहा गया वही अन्तिम सत्य है, वही ग्रहण करने योग्य है!' वे ग्रन्थ फिर हथियार बनते हैं, उनके जो अर्थ विभिन्न सम्प्रदायों में किये गये वे व्याख्यायें—भाष्य हथियार बनते हैं भाषा-युद्ध के! ये युद्ध नहीं होंगे यदि हम समझ लेंगे कि शब्द तो संकेत-मात्र हैं (The words are just indicators, the word is not the thing) 'गाय' शब्द सुनने-पढ़ने या चित्र देख लेने भर से वस्तुतः गाय को जानना नहीं हो जाता, गाय प्राणी को प्रत्यक्ष देखने से ही जाना जाता है। वैसे 'परमात्मा सर्वरूप-सर्वाकार-सर्वाधार हैं'—कहने से तो बोध नहीं हो जाता, 'सर्व' की 'एकता' को पहचानना पड़ता है। 'सर्व' शब्द जिस तथ्य का संकेत करता है उस तथ्य को देखना, उसके तेज-ओज में नहाते हुए बाहर निकलना होता है।

काल और भाषा या शब्द की प्रतीकात्मकता का तथा मानसिक-काल्पनिक-आपेक्षिक, एवं शाब्दिक, भावनात्मक सत्ता (Psychological, imaginery, verbal, conceptual existence) का जब भान होता है, तब बोध होता है कि 'सर्वोपरि' कही गयी जीवनसत्ता की वास्तविकता का अर्थ क्या है? वह कलना-मुक्त, संख्यामुक्त है। सामाजिक व्यवहार व व्यवस्था के लिए गणना व प्रतीकों का उपयोग अवश्य करें, लेकिन उसे निरपेक्ष सत्य न मानें। तब ग्रन्थि, गाँठें नहीं बनतीं, आने वाले 'कल' के भरोसे सामने खड़े 'आज' की उपेक्षा नहीं होती है। फिर प्रमाद चित्त में घुस नहीं सकता। क्योंकि जीवन जो भी है वह आज है, यहाँ है, इसी पल-विपल में है।

नाद में से सप्त स्वर बनाये मनुष्य ने! उन 'स-रि-ग-म-प-ध-नि' के अन्तराल निर्धारित किये, उनको फिर 'कोमल' 'तीव्र' छटायें बनायीं,

इन्हीं सप्त स्वरों, तीन ग्रामों, २१ मूर्च्छनाओं के विविध विनियोग से असंख्य राग-रागिनियों की सृष्टि खड़ी की; इनके शास्त्र रचे गये; विभिन्न मुद्राओं के संकेत बनाये, उनके साथ लय-ताल जोड़े—नृत्य का शास्त्र बनाया; कृत्रिम रीति से काल्पनिक कथानकों द्वारा वास्तविकता को अवास्तविक भूमिका पर प्रत्यक्ष की तरह दिखा कर जनसमुदाय को बहुत-कुछ सिखा जाने वाले नाट्यशास्त्र-अभिनयकला का सृजन किया मनुष्य ने ।

निरपेक्ष सत्य है वह नाद जो किसी आघात से उत्पन्न नहीं होता, स्वयम्भू है । यों सृष्टि में—निसर्ग में अनेक प्रकार के नाद हैं—मेघों का, सागर का, सरिताओं का, पक्षियों का, बाँस के झुरमुटों में से बहते पवन का, आम्रकुञ्ज में से आते पवन का—सब अलग-प्रकार के नाद हैं; किन्तु ये सब घर्षण में से उत्पन्न होते हैं (Sound born of friction) । हमारे बोलने में भी—कण्ठ-मूर्धा-तालु-दाँत-ओठ से जिह्वा का तरह-तरह का घर्षण व स्पर्श होते हुए अक्षर निकलते हैं, गाने में भी स्वरयन्त्र के 'परदों' से घर्षित होते हुए स्वर बाहर प्रकट होता है—अतः सभी 'आहत' नाद है । इन नादों को मन की प्रतिक्रियाओं की दखल के बिना, केवल सुनते रहने से, यह आहत नाद भी अनाहत-स्वयम्भू नाद की ओर ले जा सकते हैं । कहा गया है—

'नादरूपः स्वयं विष्णुः नादरूपो महेश्वरः ।
नादात्मिका परा शक्तिः तस्माद् नादात्मकं जगत् ॥'

अनाहत स्वयम्भू नाद का भी प्रतीक बनाया गया—ॐकार—प्रणव को; उसे 'एकाक्षर ब्रह्म' और 'ब्रह्म का वाचक' अक्षर भी कहा गया । इस प्रतीक की भारतीय संस्कृति में सभी धाराओं में सर्वमान्यता रही, वैदिक पद्धति में तथा सभी आगमों व तन्त्रों में ॐ का प्रयोग होता आया; मेरे देखे मुस्लिम समाज में भी ('अल्लाह हु अकबर !') प्रकारान्तर से इस नाद का उपयोग है ही ॥ प्रणव (ॐकार) को घनीभूत जगत् या सघन ब्रह्मरूप माना गया । यह भी मनुष्य की प्रतीक-प्रियता का निदर्शन है ।

मानवीय सभ्यता-संस्कृति का आशय है जीवन के निरपेक्ष परम सत्य को लोकसुलभ सुगम-रमणीय धारणाओं व प्रतीकों द्वारा व्यक्त करना, उन्हें अपनी सन्तति में संक्रान्त करना; प्रतीकों व मान्यताओं

को सजा-सजा कर सभ्यता-संस्कृति का विकास करना। इन प्रतीकों को छोड़ नहीं देना है; केवल इनकी सापेक्षता एवं मर्यादा समझ लेनी है। (Relativeness of the ideas and symbols has to be seen.) तब इस सापेक्षता को जीवन के निरुपाधिक चरम सत्य (Absolute Truth) के साथ मिला देने की भ्रान्ति (Confusion) में नहीं पड़ेंगे, गलत नहीं समझेंगे। तब जीवन की तात्त्विक 'अकाल' सत्ता, कालातीतता को समझते हुए भी दैनिक चर्या में घड़ी के काँटों की भाषा की अवहेलना नहीं करेंगे; जिस समय जहाँ पहुँचना निश्चित किया हो—वहाँ उसी समय अवश्य पहुँचेंगे। (कोई आकस्मिक विघ्न न आ गया हो तो।) यह नहीं कहेंगे कि "जीवन तो काल से परे है, काल से मुक्त है; घड़ी कुछ भी बजाती रहे, क्या फ़र्क पड़ता है ? इस काल्पनिक मान्यता के आधार पर हम क्यों चलें ?" (ऐसा कहेंगे तो ठीक दस बजे यहाँ आकर बैठ नहीं सकेंगे।) कोई आपका नाम लेकर पुकारे तो उसको उत्तर न देकर क्या यह कहेंगे कि "हम तो आत्मा हैं; हमारा कोई नाम नहीं, रूप नहीं, सम्बन्ध नहीं, कार्य नहीं !"—ऐसी भ्रान्ति पैदा करेंगे तो अराजकता (chaos) हो जायेगी।

जीवन सम्बन्धों में है, जीवन का कर्म संवादिता से सम्बन्धों को उचित प्रतिसाद देने में ही है (Act of living harmoniously is the content of life,) सभी सम्बन्धों में—परिवार में, समाज में—संवादिता लानी है। संवाद का अर्थ है—अन्याय नहीं, अनीति नहीं, अधर्म नहीं, शोषण नहीं। वह अभी तक हम कर नहीं पाये हैं। घर-परिवार में ही वह नहीं हो पाता है तो बाहर क्या करेंगे ? हमारे सब सम्बन्ध शोषण पर, प्रभुत्व पर आधारित हैं; परिग्रह की भावना में आसक्त होकर हैं। सच कहूँ ? मनुष्य को मनुष्य के नाते जीना ही नहीं आया। आकृति से हम मनुष्य हैं, लेकिन मानवता का आशय, मानवता का विकास इस आकृति में परिपक्व होना बाकी है। उसका प्रारम्भ हो चुका है, लेकिन वह मानवता अभी कच्ची है। पशुता का सिलसिला (hangover) या अवशेष अभी उसमें चल रहा है। इसलिये विकारों से दूषित होती है, विचारों के आवेग-अभिनिवेश में अटक जाती है मानवता, ध्येयों-आदर्शों सिद्धान्तमतवादों के आग्रहों में फँस जाती है। मानवता व्यक्त नहीं हो

पाती। इस तरह कैद में पड़ी मानवता को मुक्त करना मानव का धर्म है। प्रतीकों को प्रतीक समझें, मान्यता को उसकी मर्यादा में रखें, और इनसे अतीत जो जीवन की निरपेक्ष सत्ता है, उस सत्ता को पहचानें।

मौन में चित्त सङ्कल्प-विकल्प से मुक्त होता है, जो प्रतिमायें हम बनाते हैं, उनकी ग्रन्थियों से चित्त मुक्त होता है। चित्त में वृत्तियों की हलचल नहीं रहती तब समझ में आता है कि जीवन की सत्ता वस्तुतः क्या है, और उस पर हमने क्या-क्या आरोपित किया है ? निरपेक्ष सत्ता और सापेक्ष मान्यताओं-प्रतीकों-अध्यास आदि का अन्तर समझ में आता है, इसलिये आग्रह के साथ-साथ आसक्ति भी छूट जाती है। बुद्धि में अनाग्रह रहता है, चित्त में अनासक्ति। इनकी प्रतिष्ठा होती है। आप रहेंगे अपने घर-परिवार में ही, लेकिन भीतर से आग्रह गल गये, आसक्ति घुल गयी। यह यदि मौन में नहीं होता तो मानना होगा कि वह मौन का अभिनय है। 'अहं' नाम का केन्द्र जहाँ विघटित—विसर्जित होता है, वहाँ मौन सिद्ध हुआ—समझें। 'अहं' विसर्जित हुआ है या नहीं—इसका प्रमाण (सबूत) आसन पर बैठकर बिताये जाने वाले घण्टों में नहीं मिलता; वह प्रकट होता है सुबह से रात तक के दैनिक व्यवहार में। परिवार के सदस्यों के साथ व्यवहार में, मित्रों व व्यवसाय के साथियों के साथ व्यवहार करने में, पड़ोसियों के साथ, बाजार में दुकानदारों के साथ, घर और बाहर सम्पर्क में आने वाले श्रमिकों (घर के नौकर, बाहर वाहन-चालक, मज़दूर, कुली आदि) के साथ व्यवहार करने में भीतरी जीवन का 'पोत' या स्तर प्रकट होता है, पहचाना जाता है।

The movement of knowledge, without creating the stream of thought, without inferring a thinker, the act of observation without stimulating an observer,—('ज्ञाता' खड़ा किये बिना ज्ञान, 'विचारक' का अध्यास आरोपित किये बिना विचार की धारा या प्रवाह चलना, "निरीक्षक" उपजाये बिना निरीक्षण चलता रहना)—यह दशा हो जाती है मौन में।

व्यक्ति को स्वयं अपने भीतर देखना पड़ेगा कि उसमें यह घटित हुआ है या नहीं ? क्योंकि यह मौन में घटित होने वाली घटना है। यह

मौन घटित होने पर, यानी अहं विसर्जित होने पर क्या होगा ? जो अब तक होता रहा है, वह नहीं होगा। अभी तो विचार चलते रहते हैं, दिनभर ! सोते समय भी विचार चलते हैं, प्रतिक्रियायें होती रहती है, बिना जरूरत भी प्रतिक्रियायें होती रहती हैं। उदाहरण लीजिये—यहाँ शिविर में आप प्रवचन सुनने, उसपर मनन करने आये हैं। प्रवचन चल रहा है, तब भी नज़र जाती है पास वाले व्यक्ति पर, उसके कपड़ों पर, चेहरे पर, वह क्या कर रहा है इस पर। फिर प्रतिक्रिया भी हो जाती है—"यहाँ बैठ कर यह ऐसा कर रहा है !" "ऐसी वेश-भूषा की है !" निर्णय भी हो जाता है—"यह अच्छा है, वह ठीक नहीं है" "यह व्यक्ति बहुत अच्छा मालूम पड़ता है, इससे सम्बन्ध बढ़ाने लायक है....."—पर यहाँ बैठे मन ही मन इतना सारा धन्धा करने की क्या जरूरत ? यहाँ भी पसन्दगी-नापसन्दगी, प्रियता-अप्रियता और पूर्वग्रहों का बनना छूटता नहीं।

पाँच दिन के लिये शिविर में आये हैं अध्यात्म का परिचय पाने; पर नज़र रहती है टिकी रहती है दूसरों पर, कि वे क्या करते हैं ? उनमें क्या-क्या गुण-दोष हैं ? गुण तो कम ही दिखते हैं, दोषों पर नज़र टिकी रहती है। क्योंकि अहङ्कार सांत्वना पाना चाहता है कि इससे तो मैं अच्छी हूँ। इसके अलावा, यहाँ बैठे-बैठे चित्त चला जाता है घर पर, "बच्चे क्या कर रहे होंगे ? सबकी तबियत तो ठीक है न !" यहाँ शिबिर में बैठे हुए आप बम्बई-बड़ोदा-अहमदाबाद की चिन्ता करके करेंगे क्या ? पाँच दिन यहाँ के लिये निकाल कर ही आये हैं न ! लेकिन मन जाता है चारों ओर।

इस विचार चलने को ज़रा देखें।—विचार उठा, याद आई। दोनों में शब्द है ही। शब्द शरीर में उठने से ऊर्जा खर्च होती है। (It is a movement of energy) विचार पैदा हुआ यानी शब्द पैदा हुआ। नाड़ीतन्त्र को उसका वहन करना पड़ता है। उस शब्द के अर्थ के साथ भाव भी जुड़े हैं—हताशा, निराशा, ममता, क्रोध, ईर्ष्या, कटुता, द्वेष या राग, जो भी भाव उठे उसका रसायनतन्त्र पर धक्का लगता है, परिणाम होता है। पाचनतन्त्र पर, आँखों पर, मस्तिष्क पर परिणाम होता ही है। अतः एक ओर तो इन भावों व आवेगों के उठने से रसायनतन्त्र क्षुब्ध रहता है। विचार उठते रहते हैं, उनके शब्दों के कारण

नाड़ीतन्त्र प्रक्षुब्ध रहता है। दोनों पर भार रहता है। जरा आत्मनिरीक्षण करके देख लीजियेगा।

मामूली बात नहीं है विचारों का उठना, उनके साथ भावनाओं-आवेगों का उठना, फिर चिन्ता, कुढ़ना चलता ही रहता है। इतने दबाव तनाव हमारे शरीर में रहते हैं कि ऊर्जा क्षीण होती चली जाती है। इसलिये शरीर ४०-४५ का होते-होते थक जाता है। एक तो दिन भर ऐसे वातावरण में रहना होता है जो पसन्द नहीं, शरीर को अनुकूल नहीं। भ्रष्टाचारी समाज में रहना पड़ता है, उसका क्षोभ है, फिर चित्त की यह अकारण चलते रहने की आदत! दिन का थका हारा आदमी रात में सोने के लिए बिस्तर पर पड़ता है, वहाँ भी स्वप्न घेरे रहते हैं। अतृप्त वासनायें, अतृप्त आकांक्षायें, जो पूरी तरह जिये नहीं जा सके वे क्षण (half lived moments & impressions)—सब चेतना को घेर लेते है। फिर सुबह उठते हैं तो ताज़गी कहाँ से होगी? किसी तरह अनिवार्यताओं के चाबुक चला कर शरीर को बिस्तर पर से उठाते हैं, काम में लगा देते हैं। ज़िन्दगी ऐसी त्रस्त रहती है। दबावों से ग्रस्त है।

अब जब यह ध्यान में आया कि ये मेरे विचार-विकार नहीं हैं, मनुष्यजाति के ढाँचे में गुँथे हुए विचार-विकार संस्कारों का यान्त्रिक पुनरावर्तन इस शरीर में भी हो रहा है—यह समझ में आया, तो इनके शान्त होने का भय नहीं रहा। तभी आपके नाड़ीतन्त्र एवं रसायनतन्त्र पर से तनाव-दबाव का भार हट जाता है। यह मौन का आशय है। (The content of silence is the total relaxation of neurochemical system of your body.) अध्यात्म को निरी भावनाओं को आतिशबाजी मत समझ लीजियेगा। यह शब्दों का खेल नहीं है, यह प्रतीकों की मारामारी नहीं है। यह तो गणित से भी ज़्यादा बेचूक एवं स्पष्ट सचोट (accurate & precise) सुनिश्चित सुनिर्धारित विज्ञान है। गणित में दो में दो मिलाओ तो चार ही होंगे। तीन या पाँच नहीं। उसी प्रकार यदि आप मौन का अभ्यास करते हैं, मौनावस्था में पहुँचते है या मौन को आप में सिद्ध-घटित होने देते हैं तो तनाव-दबाव से मुक्ति होनी ही चाहिये, हो जाती है।

वह जब होता है तब आपके शरीर की दशा भी बदल जाती है; जो शरीर सभी क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं-प्रतिसादों तथा देखने-सुनने का साधन है, जिसके द्वारा ऊर्जा कार्य करती है, उसकी, प्रत्यक्षीकरण या संवेदन-ग्रहण की गुणवत्ता बदल जाती है। (The quality of perception changes when the instrument of action & perception is free from all inhibitions, conflicts, tensions etc.) अब एक केन्द्र में से हेतुपूर्वक, अपने ज्ञान व अनुभूतियों से जकड़ा हुआ दर्शन नहीं है। अब आँख देखती है तो केवल निरुपाधिक सत्ता को और उसमें उठने वाले तरङ्गों को देखती है। संवेदन-ग्रहण एवं प्रत्यक्षीकरण की शुद्धि (Purification of perception) हो गया है। मौन नामक विश्रान्त अवस्था के कारण दर्शन और वर्तन की गुणवत्ता बदल गयी। यह यदि नहीं होता है, तो फिर मौन का अभ्यास व चर्चा केवल बौद्धिक विलास है।

स्वशिक्षण ही साधना है। इसमें जैसे-जैसे आप कदम बढ़ायेंगे वैसे-वैसे प्रत्यय आता जायेगा। साधना तो प्रत्यवाय व विक्षेपों के निवारण के लिए होती है, कुछ प्राप्त करने के लिए नहीं। जो नित्य विद्यमान है उसे प्राप्त क्या करना? परमात्मा तो पूरा ब्रह्माण्ड बन कर सामने खड़े हैं, उन्हें कहाँ खोजने जाना है? पृथ्वी बन कर हमें वहन-धारण करते हैं, जल बन कर प्यास बुझाते हैं—शीतलता देते हैं, सूर्य बन कर आलोकित करते हैं, ऊष्मा देते हैं, चन्द्रमा बन कर अमृत बरसाते हैं, वनस्पति बन कर हमारा पालन-पोषण करते हैं। यह यदि परमात्मा नहीं है, इसमें यदि चैतन्यशक्ति का संस्पर्श नहीं पायेंगे, इसमें यदि "वासुदेव गोपाल कृष्ण" या "रघुपति-राघव-राम" को नहीं देख पायेंगे तो उस सर्वाकार-सर्वाधार को ब्रह्माण्ड से अलग खोजेंगे कहाँ? इसी में तो रोम-रोम में वह समाया है!

मौन से अन्दर की निर्ग्रन्थता और नाड़ीतन्त्र-रसायनतन्त्र की तनाव-दबाव-मुक्त अवस्था पैदा होनी चाहिये। वह हो जाय तब ध्यान नाम के आयाम में प्रवेश होता है। The state of meditation is the awareness of eternity, totality & the grip of the particularity in life.

जीवन में विशिष्ट पदार्थों एवं व्यक्तियों से सम्बन्ध रखना पड़ता है। ध्यान आयाम में प्रतिष्ठित होने पर विशिष्ट की पकड़ छूटती नहीं, वह

कायम है; संवादी पकड़ है, संघर्षमयी नहीं; दूसरी तरफ़ जो जीवन की समग्रता है, सर्वात्मकता है उसका अनुसन्धान व भान नहीं छूटता। यह 'ध्यान'-नामक आयाम का आशय (Content) है। वर्तमान क्षण पर पकड़ बनी रहती है और भूत-वर्तमान-भविष्य से मुक्त जीवन की अखण्ड सत्ता का अनुसन्धान भी नहीं छूटता है। इसलिए एक विलक्षण सन्तुलन आप में जागृत होता है।

"समत्वं योग उच्यते" योगी होना मनुष्य जीवन का विकास है। (The consummation of human growth, is the state of meditation, the state of yoga.) विशिष्ट की पकड़ और समग्र का अनुसन्धान बने रहने के आयाम यानी ध्यानावस्था का मानवीय सम्बन्धों पर क्या परिणाम होता है, इसे देखना बड़ा रोचक विषय है।

जहाँ किसी भी प्रकार की द्वैतभावना का प्रवेश ही नहीं;
जहाँ काल को पाँव रखने का अवकाश ही नहीं;
जहाँ अहं के स्फुरण को कोई अवसर ही नहीं;
जहाँ चित्त या बुद्धि को जन्म पाने की आशा ही नहीं;
जहाँ सहज समाधि का अबाधित साम्राज्य है;

सहजता के पट पर, वहाँ—
व्यवहार के चलचित्र अङ्कित होते रहते।
प्रतिक्रियातीत सहज व्यवहार
साक्षित्व की अनिवार्य अभिव्यक्ति है।

चतुर्थ प्रवचन

दिनांक १८-२-८९ सुबह १० बजे

[आप स्वेच्छा से पाँच दिन के लिये हमारे स्नेहागार के कैदी बने हैं इसलिए समझदारों के पागलपन की ये बातें सुननी ही पड़ेंगी—रुचें या न रुचें; खोजने पर भी छूटने का रास्ता नहीं मिलेगा।]

कल मौन के आयाम तक हम पहुँचे थे। मौन को जो एक अभावात्मक अवस्था हमें लगती है, वह सचमुच अभावात्मक नहीं है; वहाँ रिक्तता नहीं है। वह ऊर्जाओं से सघन-सभर है। लेकिन उन ऊर्जाओं से हमारा परिचय नहीं है। अपनी परिचित ऊर्जायें—विचार-विकारों की—वहाँ नहीं होतीं। वहाँ जो स्पन्दन हैं वे नाड़ोतन्त्र पर या रसायनतन्त्र पर दबाव-तनाव नहीं डालते हैं, इसलिए हमें लगता है कि वहाँ रिक्तता है, अभाव है। ऐसी वस्तुस्थिति नहीं है। जिस विश्रान्त अवस्था (relaxation in the totality) का कल हमने वर्णन देखा था, वह यदि देह में घटित घटना बन जाती है तो संस्कारों में बँधी हुई ऊर्जाओं के शान्त होने के कारण, उस निस्पन्द मौन में जो वैश्विक चेतना (Cosmic consciousness) है, जिसे Universal Consciousness–Supramental Consciousness कहा जाता है—अतिमानसी चेतना, तुरीयावस्था कहा जाता है, वह प्रकट होती है।

ज्ञात का संवरण ही अज्ञात का जागरण है, और विचारों की गति के अस्त में प्रज्ञा का जागरण है। जो अनेकानेक अज्ञात ऊर्जायें हैं; उनमें से एक का उल्लेख आज करेंगे; क्योंकि सभी ऊर्जाओं को शब्दों से भी देखना ऐसे चार दिन के शिविर में सम्भव नहीं है। एक noncerebral energy है, जिसका मस्तिष्क के साथ सम्बन्ध नहीं; जिसका आनुवंशिक गुण-दोषों के साथ सम्बन्ध नहीं। शरीर के सबल या दुर्बल होने से कोई सम्बन्ध नहीं। ऐसी एक ऊर्जा प्रज्ञा नाम से जागृत होती है। इस प्रज्ञा का जागरण होने पर दर्शन और प्रतिसाद (perception & response) के बीच का अन्तर मिट जाता है। बुद्धि के स्तर पर जब हम कुछ देखते

या सुनते हैं तो वह शब्द के माध्यम से देखा या सुना जाता है, स्मृति में से उन शब्दों के अर्थ उभर आते हैं। उन अर्थों में से किसी एक के साथ, जो सुना-देखा गया—उसके अनुसार प्रतिक्रिया होती है। यह सब इतनी तेज़ी से हो जाता है कि हमारे ध्यान में भी नहीं आता कि इसमें इतने क्षण चले गये हैं। Reception of the sensation, conversion of the sensation into an impulse, interpretation of the education, conditionings etc, & reacting to that interpretation—(संवेदन का ग्रहण, उसका उत्तेजन बनना, भावना जागना, उसका अर्थघटन अपने शिक्षण एवं संस्कारों के अनुसार होना, फिर उन्हीं के अनुरूप उस अर्थघटन पर प्रतिक्रिया होना)—इतना सब कुछ एक क्षण में घटित हो जाता है। लेकिन क्षण-दो क्षणों का अन्तराल (time lag) रहता ही है।

इस देखने (perception) के लिए भी शब्द की आवश्यकता है। देखने पर जो ज्ञान होता है उसमें भी शब्द की आवश्यकता है, फिर अर्थ-घटन और प्रतिसाद या प्रतिक्रिया के लिए भी शब्द की आवश्यकता होती है। वह भूतकाल की निष्पत्ति है। शब्द भूतकाल है। शब्दों के अर्थ भी भूतकाल हैं। अतः संवेदनों का अर्थघटन भूतकाल द्वारा होता है और क्योंकि शब्दों द्वारा देखा जाता है इसलिये उतनी सी परोक्षता (indirectness) उस दर्शन (perception) में है। वह secondhand perception है। इसलिये आपको भले लगता हो कि सीधे संवेदन-ग्रहण कर रहे हैं—देख रहे हैं और प्रतिसाद दे रहे हैं, पर वास्तव में वह भी परोक्ष—दूसरे-तीसरे-चौथे हाथों से की गई क्रिया होती है। जीवन आपका नहीं बनता; उसमें भी आप बहुत पीछे के व्यक्ति बन जाते हैं; क्योंकि बीच में इतना सारा अप्रत्यक्ष—परोक्ष व्यापार (क्रियाकलाप) चलता है।

मन-बुद्धि के स्तर पर यह अनिवार्य है। यह वास्तविकता बताती हूँ, इसे कृपया निन्दा नहीं समझियेगा। जो जैसा है—वैसा उसको देखना, वैसा उसे समझना, उस समझ के आधार पर उससे सम्बन्धित होना, उससे व्यवहार करना होता है।

प्रज्ञा के जागरण के बाद, जो देखा जाता है उसका अर्थ शब्दों के द्वारा प्रतीत होता है। यह काव्य नहीं, अनुमान नहीं, ऐसा होते हुए इस

घट (देह) में देखा गया है। वहाँ—देखना, उसका अर्थघटन और प्रतिसाद—इनके बीच भूतकाल आकर खड़ा नहीं होता, काल नाम का द्रव्य वहाँ बीच में नहीं आता। The perception contains the response. It becomes total action, unconditioned, undivided by time. जीवन का स्वरूप कैसा बदल जाता है—यह आपके सामने रखना है।

इसी को सहजता (spontaneity) कहा जाता है। यह प्रज्ञा की ऊर्जा जब काम करती है, तब आप की अखिलाई में व्याप्त होकर अखिलाई (समग्रता) के द्वारा काम करती है। The whole body becomes its centre. पूरा शरीर ही मानो ऊर्जा का केन्द्र हो जाता है। उसके कार्य में गति एवं तीव्रता अधिक है। उसमें तीक्ष्णता एवं उत्कटता होती है। जो व्यक्ति पहले ही अष्टाङ्ग योग द्वारा, मौन-अभ्यास द्वारा शरीर-मन का शुद्धीकरण कर लेते हैं, उन्हें उस प्रज्ञा की उत्कटता को किसी भी असन्तुलन के बिना सहन व वहन करना सरल हो जाता है।

वह शुद्धि आप भक्ति द्वारा साधते हैं या ज्ञान से, कि कर्म से—यह प्रश्न हमारे सामने नहीं। आपकी रुचि के अनुसार किसी भी मार्ग से जायें आप, लेकिन वह समग्रता की शुद्धि निष्पन्न होनी चाहिये। वह शुद्धि निष्पन्न हुई थी मीरा में, ज्ञानेश्वर-निवृत्तिनाथ में, नरसी मेहता में, श्रीमद् राजचन्द्र में, या जिन किन्हीं भी सन्त का जीवन देखें। आप अपनी प्रकृति व संस्कारों के अनुसार जो भी मार्ग पकड़ें—भक्ति, तन्त्र, मन्त्र, लययोग, राजयोग, कर्मयोग का। वह विचारणीय प्रश्न नहीं, व्यक्ति का अपना चुनाव होगा। कोई रास्ता लम्बा होगा, कोई छोटा होगा, कोई गोल चक्करदार होगा, कोई सीधा ले जाने वाला मार्ग होगा; कोई पिपीलिका (चींटी वाला)-मार्ग होगा कोई विहंगम-(पक्षी का आकाश-) मार्ग होगा। यह तो अपनी रुचि व शक्ति का प्रश्न है। अध्यात्म में किसी मार्ग का निषेध नहीं है।

यह जो ऊर्जा का जागरण है, इसकी गति शरीर में, अणु-रेणु में ऊपर-नीचे-दायें-बायें (vertically, horizontally) सर्वत्र व्याप्त रहती है, इससे स्पन्दनों की लय बदल जाती है। श्वासोच्छ्वास की गति पर परिणाम होता है। दर्शन और श्रवण में से हर एक हलन-चलन में से समय नाम का द्रव्य, और 'भूतकाल' का हस्तक्षेप दोनों हट जाते हैं।

तब शरीर में छिपी अनेक शक्तियाँ जागृत होती हैं। ऐसे व्यक्ति के लिए भूतकाल व भविष्य की रेखायें धुल जाती है, इसलिए लोग उसे त्रिकालज्ञ कहने लगते हैं। आप के चित्त में कोई विचार उठा—उनके समीप बैठे हुए, तो उस विचार के स्पन्दन, उसके रंग-गन्ध उस व्यक्ति को प्रतीत होते हैं, बिना बोले ही वे समझ जाते हैं कि आपके चित्त में क्या चल रहा है ? आपके चित्त में प्रश्न आया कि उसे व्यक्त किए बिना ही उनके मुख से उत्तर आता है। आपका प्रश्न सुनने के लिये उन्हें शब्दों की ज़रूरत नहीं पड़ती। विचार पढ़ लेना, दूरदर्शन, दूरश्रवण, अनेक प्रकार के गन्ध आना, विचारों के रंग-रूप-आकार दीखना, सामने वाले के भीतर पड़े तनाव-दबावों का स्वरूप दीखना, शरीर में उपजे मानसिक-शारीरिक व्याधि व असन्तुलन दीखना—इत्यादि उनके लिये सहज हो जाता है। इन्ही सब असामान्यताओं के कारण लोग उनकी तरफ़ आकृष्ट होते हैं।

उनकी चेतना का केन्द्र 'अहं' नहीं है। विश्व ही उसका केन्द्र हो गया; वैश्विक चेतना उनकी प्रज्ञा के रूप में प्रकट होने लगती है। उनकी चेतना का न कोई केन्द्र है, न परिधि (No centre, no circumference) देह के स्तर पर सीमा है। पर उस साढ़े-तीन-हाथ के शरीर में से काम करती है—व्यक्त होती है वैश्विक चेतना। बिजली के बल्ब में से जो ४०–६०–१०० वॉट् का प्रकाश आता है वह उस काँच के गोले या अन्दर लगे तारों का नहीं, उन तारों द्वारा क्रियान्वित हो रही विद्युत्-ऊर्जा का है। वैसे ही, मौन सध जाने पर उस देह-रूपी बल्ब में से जो ज्योति प्रकट होती है वह वैश्विक है।

इसमें एक बड़ा खतरा है। युवक लोग जानते होंगे कि साइकिल पर या घोड़े पर चढ़ने पर इच्छा होती है खूब तेज चलाने-दौड़ाने की। वेग बढ़ाते जाने का एक नशा होता है; पाँवों से चलने की गति के सुख से कहीं अधिक सुख और उसका नशा ऐसे वाहनों की सवारी करने में होता है जो तेज़ दौड़ सकते हैं। उसमें एक प्रकार की मादकता है। अब तो प्रकाश की गति से चल सकें ऐसे आकाशगामी वाहन बनाने जा रहे हैं वैज्ञानिक। गति के वेग में एक नशे जैसा सुख होता है। विकारों-विचारों का भी नशा चढ़ता है। विकारों और दुर्विचारों के आवेग होते

हैं, सद्विचारों के आवेश चढ़ते हैं। बात एक ही है—इनसे असन्तुलन पैदा होता है। वैसे ही प्रज्ञा के जागरण से भी इन्द्रियों में जो नई गति आती है उसका नशा चढ़ता है, उन्माद होता है। और दृष्टि की सीमायें हट जाने से जो विचार जान लेना, भूत-भविष्य दिखाई देना, दूरदर्शन-दूरश्रवण होना आदि प्रकट होता है तो लोग उस व्यक्ति को 'चमत्कारी विभूति' या 'पहुँचा हुआ सिद्ध' मान कर आकर्षित होने लगते हैं, अपने छोटे-मोटे स्वार्थ साधने के लोभ से भी समीप आने लगते हैं, खुशामद करते हैं। अपने स्वार्थ साधने के लिए लोग प्रशंसा के पुल बाँधने लगते हैं। साधु-महात्माओं के पास आने वाले अधिकतर लोग तो अपनी सांसारिक कामनायें लेकर ही आते हैं; अध्यात्मजिज्ञासा से तो कोई विरला ही आता है।

अर्जेन्टीना में हमारे एक मित्र मनोवैज्ञानिक-चिकित्सक हैं डॉ० रूबिन बोले लॉन्ज़े। वे श्री जे-कृष्णमूर्ति के सम्पर्क में आये, शायद १९७५ की बात है, उनके साथ संवाद चल रहा था। उसी बीच डॉ० रूबिन ने कहा—'कृष्णजी, आप तो बहुत प्रेमालु एवं प्रेम करने योग्य व्यक्ति (Lovable person) हैं, इसीलिए आपके प्रति प्रेम के कारण लोग आप के पास आते हैं।' कृष्ण जी ने कहा 'ठहरिये', ये लोग मुझे नहीं प्रेम करते, मेरे प्रेम में पड़ जाते हैं (They do not love me. they fall in love with me.) उन्हें मेरे प्रति जो आकर्षण होता है, उस आकर्षण में वे गिर जाते हैं। मेरी बात सुनने का धैर्य बहुत कम में होता है। लोग न वास्तव में मेरी तरफ़ देखते हैं, न मुझे सुनते हैं; वे अपनी-अपनी वासनाओं में इतने अधिक व्यस्त हैं कि इनसे हमें क्या मिल सकेगा ?

प्रज्ञा के जागरण के कारण जब शरीर-मन-बुद्धि को शक्तियाँ बढ़ी हुई होती है और एक तेज-ओज प्रकट हो रहा होता है, तब उसका उन्माद भी उस व्यक्ति में आ सकता है, यदि पहले योगाभ्यास या सन्तुलित संयत जीवनपद्धति द्वारा तन-मन की विशुद्धि न कर ली हो। उन्माद के कारण वह व्यक्ति प्रशंसा-प्रतिष्ठा का शिकार हो सकता है, यदि बचपन बहुत गरीबी में बीता हो और शारीरिक सुख-सुविधा-ऐश-आराम की अतृप्त वासना भीतर पड़ी हो तो ऐसे सुख-साधनों का शिकार हो सकता है। उसके हाड़-माँस में कमजोरी रही हो तो उस

पर वह उन्माद हावी हो जाता है। ऐसा अल्पसत्त्व व्यक्ति मानने लगता है कि 'मैं असाधारण हूँ।' वैश्विक प्रज्ञा का जागरण होकर उसके द्वारा इस शरीर से वैश्विक हित के कार्य होने लगें, फिर भी यह अहङ्कार न जागे कि 'मुझ में इतनी शक्ति है; मैं असामान्य हूँ'—यह बड़ा दुर्लभ होता है।

हम देख रहे थे—A movement of knowledge without creating a knower; movement of thought, without creating a thinker, वैसे ही होती है—Movement of Cosmic energy, without creating an image of one who holds & contains that Intelligence. (जैसे 'ज्ञाता' खड़ा किये बिना ज्ञान होना, 'विचारक' पैदा किये बिना विचार या चिन्तन चलना होता है, वैसे वैश्विक प्रज्ञा को 'धारण करने वाले किसी व्यक्ति-विशेष' की प्रतिमा बनाये बिना वैश्विक ऊर्जा का कार्य भी चलता है।) यह यदि हो जाय तो खतरा नहीं है। ब्राह्मी दशा जागृत हो गयी है; जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति से परे ब्राह्मी स्थिति—तुरीयावस्था में सहज लीला से जीना हो रहा है, लेकिन "मैं उसमें जी रहा हूँ" इसके भान का ग्रन्थि यदि नहीं बना, तब तो मौनावस्था से परे ध्यान के आयाम में पहुँचा जाता है।

यदि लगे कि "मेरे पास इतनी शक्तियाँ हैं, उनका समाज के लिये उपयोग होना चाहिये, विश्व के लिये उपयोग होना चाहिये"। तो "मैं यह सब करूँगा, इस ढंग से करूँगा, उस ढंग से करूँगा, संस्था खड़ी करूँगा, चेले और प्रचारक बनाऊँगा, आश्रम बनाऊँगा,···फिर इन्हें संभालने को धन इकट्ठा करूँगा, आश्रम में रहने वाले आपस में लड़ें-भिड़ें नहीं इसके लिये नियम बना दूँगा। उन नियमों-प्रतिज्ञाओं के पालन के लिये प्रहरी नियुक्त करना···भारी प्रपञ्च खड़ा होता है। "मिशन"—भावना का एक नशा चढ़ता है; सहजता नहीं रहती।

इसी तरह उस प्रज्ञा के जागरण से संचार करने वाली ऊर्जाओं को पकड़कर उनको अपने काबू में रखा जा सके, उनका अपनी इच्छा से उपयोग करने की वृत्ति यदि न उठे, तब तो बेड़ा पार है। फिर जैसे विचार-विकार की गति पैदा होती है और शान्त भी हो सकती है, वैसे प्रज्ञा के जागरण से कार्यशील हुई नवीन व अज्ञात अनेकों ऊर्जाओं-

शक्तियों को भी शान्त किया जा सकता है। वैश्विक चेतना का सञ्चार भी शान्त व निवृत्त या संवृत हो सकता है।

इस प्रज्ञा के जागरण से, अपने भीतर जो सृष्टि के सूक्ष्मातिसूक्ष्म नाद निहित हैं वे सुनाई दे सकते हैं, अनाहत नाद भी सुनाई देता है जिसे प्रणव—ॐकार कहा गया है। वह सुनाई देता है, किसी को नाद नहीं सुनाई देते, रंग दिखाई पड़ते हैं। किसी को रंग दिखने से प्रारम्भ होता है, किसी का सुनने से। वह ऊर्जा जब संचार करने लगती है, ऊपर नीचे दौड़ने लगती है तब यह होता है। हर नाद का एक रंग हैं, और श्वासोच्छ्वास जब नाड़ियों में से गुज़रता है तो नाद उठते है। पञ्चप्राणों (प्राण, अपान, उदान, व्यान, समान) के अलग-अलग प्रकार के नाद हैं। हर-एक नाद का अपना-अपना वर्ण (रंग) बनता है—रक्त, श्याम, पीत आदि। ऐसे सप्त रंगों के वर्णन भी शास्त्रों में हैं, क्योंकि यह सब मनःकायिक (Psycho-physical) तथ्य हैं। ये कोई अध्यात्म के ऊंचे स्तर की बातें नहीं हैं, किन्तु हो सकता है। मन्त्रजप करते-करते, हठयोग की प्रक्रियाओं के प्रभाव से, भजन गाते हुए, यह हो सकता है। निमित्त कुछ भी बने!

इसमें अटकना नहीं है। उसमें सुख होता है इसलिये अटकने की सम्भावना है। दुःखों का मूल है सुख के पुनरावर्तन की लालसा। इसमें ही अनन्त दुःखों का स्रोत हैं। भय का मूल कारण भी वहीं पड़ा है। सुख अपने आप में तो दिव्य है। बड़ा सुन्दर विश्व बनाया; प्रभु विश्वाकार बने। आपको इन्द्रियाँ दी हैं कि एक-एक विषय की मार्फ़त एक-एक रस का आप सेवन कर सकें। इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध कोई बन्धन नहीं हैं। उन्हें पकड़कर रखने की इच्छा ही बन्धन की जड़ है।

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी कहा करते थे कि लोग संसार को क्यों पकड़ना चाहते हैं? संसार वह है जो कभी पकड़ में आयेगा ही नहीं। जो पकड़ना चाहने पर भी हाथ न आये—खिसकता भागता ही जाये वह संसार है, और जिसे छोड़ना चाहो तो भी न छूटे वह है हमारा परमात्मा! उन प्रभु को ये खोजने निकलते हैं; प्रभु तो पहले ही सब में सब ओर से हैं ही, उन्होंने सब को पकड़ रखा है; आप छूटना चाहो तो भी छूट नहीं सकते। प्रभु की पकड़ से छूट नहीं सकते, संसार को पकड़ नहीं सकते।

कहना यही है कि वैश्विक चेतना या प्रज्ञा के जागरण से उद्भूत होने वाली ऊर्जाओं व शक्तियों में से किसी के भी शिकार यदि नहीं बनते हैं, तो जो असामान्यता का उद्रेक शरीर को तेजःपुंज बनाता है, व्यक्तित्व में विभूतिमत्त्व लाता है, जैसे शरीर में ज्वर चढ़ा हो, या दौड़ कर आये हों तो मुँह लाल-लाल होकर दमकने लगता है, वैसे ही वैश्विक चेतना-प्रज्ञा का जागरण होने का शरीर पर वाणी पर, इन्द्रियों पर परिणाम होता है। एक विलक्षण तेज-ओज एवं ताज़गी का वर्तुल (an aura or orbit) उस व्यक्ति के आस-पास बन जाता है।

वह सब भी शान्त होता है। और, जैसे व्यक्ति-चेतना या संस्काराधीन अहं के वर्तुल में से चेतना निकल गई थी, वैसे वैश्विक चेतना के घेरे (orbit) में से भी वह व्यक्ति मुक्त हो जाता है। From the all energies individual or Cosmic, Conditioned or unconditioned—सभी ऊर्जा-क्षेत्रों से वह बाहर निकल गया, वैश्विक चेतना का भी आकर्षण न रहा; उसको पकड़ के रखने की इच्छा न रही, उसमें तदात्मता न रही। तब मनुष्य के लिए अन्तिम चरण रह जाता है—सब ऊर्जाओं को धारण करने वाली जो परम सत्ता है—जो जीवन का होनेपना है—The isness, the suchness, the beingness of life—उसकी गहराई में वह व्यक्ति पहुँच जाता है; या उसके भीतर समाई हुई वह गहराई अब इन्द्रिय-स्तर पर प्रकट हुई है।

आपने देखा होगा सागर कैसे बड़े-बड़े तरङ्गों को—लहरों को तूफ़ानों को धारण करता है? जब बिन्दु बनता है तब एक प्रकार की ऊर्जा है, महातरङ्ग बने तब और तरह की ऊर्जा है, उनकी गति, उनका प्रकट होना—लय होना सब सागर के वक्ष पर चलता है। यदि आप सागर के नीचे उतर जायें तो वहाँ न लहरें हैं न आँधी-तूफ़ान है न गर्जन। सागर तट से ९०० फ़ीट नीचे सागर के भीतर जाकर देखने का अवसर आया था, तब देखा है। समुद्र के तल में क्या है—यह दिखाना चाहते थे कुछ वैज्ञानिक शोध में लगे हुए मित्र; उनका सागरतल में बाकायदा एक छोटा केबिन बना हुआ था जहाँ से वे भीतरी सृष्टि का अध्ययन करते थे। जनता-जनार्दन की वाङ्मयी पूजा है यहाँ बैठना; इसलिए जो देखा गया, समझा गया और जिया गया—इतना ही आपके सामने रखना

है। —कहना यही है कि सागर जैसे तरङ्गों-मौजों को धारण करता है, और उसके भीतर वह खलभली वह क्षोभ पहुँचता नहीं है; वहाँ किसी प्रकार का विक्षेप नहीं, असन्तुलन नहीं, अद्‌भुत स्थिरता है। तभी कहा गया न—

"समुद्रमिव गाम्भीर्ये स्थैर्ये च हिमवान् इव।"

ऐसी सत्ता में वह प्रतिष्ठित है। उसके चित्त में अपने लिए, समाज के लिए, विश्व के लिए, इहलोक-परलोक के लिये कभी कोई संकल्प-विकल्प-विचार नहीं उठता। इच्छा नहीं, अनिच्छा नहीं, आग्रह नहीं, आसक्ति तहीं, विरक्ति नहीं। "सत्तामात्रशरीरम्" चेतना का स्वरूप रहता है। यह है ध्यान का आयाम। 'होनेपन' का आह्लाद है, प्रसाद है, उसी से समधारणा-समतुला है। वह सब उस व्यक्ति की दृष्टि में, वाणी में, कर्मों में प्रकट होता है। उसका जीवन ही ध्यानस्थ है। यह नहीं कि दो घण्टे ध्यान में बैठा, फिर उठ गया। ऐसे आवागमन की बात नहीं है। ध्यान वहाँ क्रिया-प्रक्रिया नहीं है; वह स्थायी निवास है। सत्ता ही निवास है उसका।

हमारा निवास विचारों-विकारों-संस्कारों में है। इससे ऊपर उठे तो हमारा निवास मौन में जागृत होने वाली ऊर्जाओं में हो जाता है, व्यक्तिगत से निकले तो वैश्विक चेतना में रम गये हैं। किन्तु जो व्यक्ति ध्यानस्थ है वह केवल सत्ता में प्रतिष्ठित है। ध्यान का सहज शील हो जाना ही समाधि है। ध्यान का आयाम एक बड़ा अद्‌भुत आयाम है।

मनुष्य की जो यात्रा चल रही है उसमें ध्यान-आयाम का बड़ा महत्त्व है। पदार्थविज्ञान और मनोविज्ञान अब अध्यात्म की दिशा में आगे बढ़ रहे हैं। लगभग अध्यात्म के प्राङ्गण में आकर Physics खड़ा है। डॉ० डेविड बोम "Implicit order explisit order" की बात लिखते हैं, मॉरिस निकॉल लिखते हैं—"Explosion of the Universe out of emptiness", चिली के एक वैज्ञानिक डॉ० उम्बेर्तो "Science of biological cognition लिखते हैं। Physicists के ध्यान में यह आया है कि अणु के विश्लेषण में आगे-आगे बढ़ते जाने भर से सृष्टि का रहस्य नहीं पकड़ा जा सकेगा। "We will have to turn around,

and begin with the awareness of the wholeness & homogeneity of life. जीवन की एकरसता-अविभाज्यता-अखण्डता समग्रता को पहले समझना होगा, फिर हमने जिन्हें विशिष्ट Particular माना था, वे अणु-परमाणु-इलेक्ट्रान-प्रोटोन, न्यूक्लियस् आदि इस एकरसता अविभाज्य-अखण्ड सत्ता में किस प्रकार स्थित हैं—इसे देखना होगा। ये सत्ता के Organic parts हैं, कल-पुर्जे जैसे जड़ हिस्से नहीं हैं। अणु को हम जीवन की समग्रता से जुड़ा हुआ देखेंगे। केवल जीवन के सन्दर्भ में नहीं, जीवन से जुड़ा हुआ उसका जो रूप है वह देखेंगे। तब अंश में में भी पूर्णता-समग्रता का बोध होगा। हमने तो अणु को समग्रता से अलग हटा कर देखा, इसीलिए अणु का प्राणतत्त्व हमारी पकड़ में नहीं आया। केवल अणु का शव हमारे सामने आया, और उसमें पड़ा हुआ quantum of energy देख पाये। उसका इतना उत्पात है, तो यदि समग्रता से जुड़े हुए अणु-परमाणु को देखेंगे, वहाँ उनका विश्लेषण करेंगे तो शायद जीवन का—सृष्टि का रहस्य हम जान पायेंगे। इस तरह पदार्थवेत्ता वैज्ञानिक भी अब—matter, energy behind matter, emptiness behind energy & the isness behind the emptiness—इतने सोपान चढ़ रहे हैं।

आप के पास जो ध्यान-समाधि की बात रख रही हूँ वह कपोल-कल्पित नहीं, 'यूटोपिया' नहीं, यह तो मानवीय चेतना की तहें खुलने की पराकाष्ठा है, मानवीय अभिवृद्धि का घनीभूत रूप है (Unfoldment of human consciousness & consumation of human growth) इसे विकास (evolution) मैं नहीं कहती; किन्तु बीज का विकास जैसे वृक्ष में है—उस प्रकार कहना हो तो इसे विकास कहा जा सकता है।

एक व्यक्ति ने प्रश्न लिखकर दिया था कि आप जो ध्यान, समाधि की बात करती हैं, इसमें रहकर आज समाज में छाये अन्याय-शोषण-हिंसा का प्रतिकार किया जा सकता है? शून्य में, मौन में रहते हुए क्या यह सम्भव है? —हाँ भई! यही तो करना है। मनुष्य जाति को वह सीखने का आह्वान दिया महात्मा गान्धी ने, उससे पहले ही सीधा आवाहन किया था ठाकुर रामकृष्ण परमहंस ने। उन्होंने अपने शिष्यों से कहा था—"क्या उपयोग है तुम्हारी सबीज-निर्बीज-सविकल्प समाधियों

का ? जब तक कि तुम्हारे आस-पास दीन-हीन नंगे-भूखे लोग हैं !" विवेकानन्द ने जब निर्विकल्प समाधि की इच्छा बताई तब रामकृष्णदेव अपनी शैली में बोले—"साले ! मुझे नहीं मालूम था कि तू इतना स्वार्थी है ? मैं तो समझ रहा था कि तू निस्वार्थ आदमी है, तू 'माँ' का काम करेगा ! तुझे अपनी ही निर्विकल्प समाधि की पड़ी है ?"

'शब्द बाण उर अन्तर लागा'—बात केवल चुभी ही नहीं, विवेकानन्द जी की आँख खुल गई थी। इसलिये वही विवेकानन्द रामकृष्ण-मिशन की स्थापना के बाद एक बार साथियों से बात करते हुए सहज ही कह गये कि "एक नहीं हजार बार मुझे इस धरती पर जन्म लेना पड़े, लूंगा; लेकिन जब तक भारतभूमि का कोई निवासी दीन-दुःखी-नङ्गा-भूखा है, तब तक मुझे अपनी मुक्ति की पड़ी नहीं।'

इस प्रकार, समाधि का आयाम और समाज के घटक के नाते अपना जीवन इन दोनों को जोड़ने का प्रयत्न अपने स्तर से रामकृष्णदेव ने किया, उसके कुछ प्रयोग अपनी समझ के अनुसार स्वामी विवेकानन्द ने किये; उनके बाद राजनैतिक सन्दर्भ में संग्राम में अध्यात्म के मूल्यों को प्रेरक बल बनाने का प्रयोग-प्रयत्न महात्मा गाँधी ने किया। आर्थिक विषमता को हटाने के लिये क्रान्तिकारी प्रयत्नों के साथ उसको जोड़ने का पुरुषार्थ सन्त विनोबाजी ने किया।

पता नहीं आप लोगों में से कितनों ने विनोबाजी को नज़दीक से देखा है ? तेरह वर्ष सात महीने अठारह दिन रात-दिन विनोबाजी इस देश में पैदल घूमते रहे। दिन में चार-चार सभायें होतीं, १०–१२ मील चलना होता, कितनी ही मुलाकातें चलतीं; और केवल दही व मधु का आहार रहता उनका (शरीर में व्याधि के कारण)। इन्हीं तेरह वर्षों में बहुत सारे ग्रन्थों की निर्मिति हुई। काश्मीर गये तो 'रुहूल ए क़ुरान' बना, उड़ीसा गये तो जगन्नाथदास के भागवत की प्रति संशोधित हुई। आसाम गये तो माधवदेव के 'नामघोषा' का पुनः संस्करण हुआ, उसकी प्रस्तावना विनोबाजी ने लिखी। वेदों पर कार्य होता, ग्रन्थों के संशोधन होते; हर प्रदेश की भाषा व साहित्य का अध्ययन होता; भूदान-यज्ञ की सभायें—मुलाकातें और पदयात्रा तो नित्य चलती ही थीं।

इतने परिश्रम के बावजूद विनोबा कहाँ थे ? वे देहस्थ नहीं, आत्मस्थ रहते, ब्राह्मी स्थिति में समाधिस्थ रहते। इतना बड़ा क्रान्तिकारी आन्दोलन चलाया—अपनी ब्राह्मी दशा व नित्य समाधि में रहते हुए ही।.....उड़ीसा में कोरापुट जिले की बात है; ग्रामदान होने लगे थे। मैं देखती थी कि विनोबाजी मस्त हैं भजन में, प्रार्थना में ! अपनी धुन में मस्ती से चले जा रहे हैं। एक दिन मैंने पूछ लिया—"बाबा ! आपने इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया है, यह चलेगा कैसे ? कौन चलायेगा ? आपके जाने के बाद इसे कौन सम्हालेगा ?" तब बड़े प्यार से बोले—"विमलानन्द ! तुम्हारे बाबा (विनोबा) को जन्म देकर भारत-माता बाँझ हो गई है क्या ? वह अपने काम के लिये सैकड़ों विनोबा पैदा कर लेगी !" ऐसे ही एक बार बुलाकर कहा "अरे देखो ! रामकृष्ण परमहंस ने कहा था कि निर्विकल्प समाधि की अवस्था लगातार रहे तो २१ दिन से ज़्यादा शरीर टिकना मुश्किल है। और तुम्हारे बाबा की तो ६ महीने से यही अवस्था चल रही है। इसका शरीर तो गिरा नहीं। तो या तो यह सही समाधि अवस्था नहीं है, या रामकृष्णदेव ने जो कहा वह सही नहीं है। लेकिन विमल ! मैंने बहुत बारीकी से इसे देखा है; लगता है कि यह अवस्था तो समाधि की है।" विनोबा बड़े विचक्षण व्यक्ति थे, प्रकाण्ड पण्डित, परम भागवत ! क्या वर्णन करें उनका ? यह बात मैं १९५५-५६ की कर रही हूँ; उसके बाद तो १९८२ तक रहे हैं विनोबा।

इस तरह, समाधि के आयाम में रहते हुए, शून्य अवस्था में, संकल्प-विकल्प-मुक्त चित्त से रहते हुए जिया जा सकता है। सामने कोई आया, उसको कुछ ज़रूरत हुई तो वैसा प्रतिसाद दे दिया, बोलने की ज़रूरत हुई तब बोले; शरीर को समय से खिला दिया, समय पर सुला दिया। हमारी आँखों के सामने वे महात्मा सतत निर्विकल्प अवस्था में रहते हुए इतना काम कर गये।

ऐसे ही, जिन्होंने श्री कृष्णमूर्ति को देखा होगा वे जानते होंगे उनका जीवन। ओहाई में संस्था चल रही है, ब्रॉकवुड में चल रही हैं; हिन्दुस्तान में दो जगह शिक्षण-संस्थायें चल रही हैं; जहाँ जायें वहाँ सैकड़ों लोग मिलने को उत्सुक हैं; उन्हें जगद्गुरु मान रहे हैं, पता नहीं क्या-

क्या मान रहे हैं। कितनी Authority (अधिकार, प्रामाण्य) की भावना लोगों ने अपने मन से उनके साथ जोड़ रखी थी। लेकिन वह Authority की भावना लेकर कोई उनके पास जाये तो वे उस भावना को पलभर में चूर कर डालते थे।

अपने-अपने ढंग से इन महामानवों ने (गाँधी-विनोबा—रमणमहर्षि-जे० कृष्णमूर्ति ने) जो सिखाया, वह हमें सीखना है न! इसी सन्दर्भ में एक बात याद आई। महात्मा गाँधी के शिष्यों में एक थे श्री शङ्करलाल बैंकर, पहले बैरिस्टर थे, खादी के काम के तो भीष्म पितामह समझ लीजिये। उनकी इच्छा हुई श्री रमणमहर्षि के पास जाने की। बापू ने सम्मति दे दी। शंकरलालजी गये, महर्षि से मिलने की अनुमति माँगी। उन्होंने कहा "कल सुबह (मध्यरात्रि के बाद) ढाई बजे मिलो रसोईघर में!" रमणमहर्षि रोज ब्राह्म-मुहूर्त से भी पहले २.३० बजे से सुबह ५ बजे तक रसोईघर में काम करते थे। शङ्करलाल भाई पहुँच गये सुबह ढाई बजे वहाँ। महर्षि बैठे सब्जी काट-सँवार रहे थे। इनसे भी कहा—"बैठो, तुम भी सब्जी सँवारो!" इन्हें वह करना आ नहीं रहा था। महर्षि बोले—"बापू के साथ रहते हो और सब्जी सँवारना नहीं आता? वह भी एक कला है। ऐसे सुन्दर ढंग से सब्जी सँवारनी चाहिये। जैसे-तैसे चक्कू चला दिया—यह सब्जी सँवारना नहीं है। प्रभु को 'सुन्दर' कहते हो, तो अपने कर्म में वह 'सुन्दरता' नहीं लानी है?" शङ्करलालजी ने हमें यह सब सुनाया था। कहा कि पहली ठोकर वहीं लगी कि सब्जी सँवारना नहीं आता।

ढाई घण्टे महर्षि रसोई में काम करते थे, फिर गोशाला में जाते, गायों को नहलाते, चारा देते। रमणमहर्षि, जो शून्य व मौन आयाम की सदेह मूर्ति-रूप थे, उन्हें बाधा नहीं आई आश्रम में ये सब काम करते हुए। उसी बीच मुलाकातों में अध्यात्म कहना भी हो जाता था। ऐसे ही, विनोबाजी को तेरह-चौदह साल देश-भर में सतत घूमते एवं अनेकों मञ्चों पर विविध कार्य करते हुए कभी समाधि में विक्षेप नहीं लगा। गाँधीजी को स्वाधीनता संग्राम चलाते हुए भी सबके प्रति (विरोधियों, निन्दकों एवं अंग्रेजों के प्रति भी) निर्वैर भाव रखने में अन्तराय नहीं प्रतीत हुआ।

इसलिये यह सवाल ही चित्त में क्यों उठे कि यह हो सकता है या नहीं ? अवश्य ही, यह सीखना पड़ेगा। अपने-आपको यह शिक्षण देना पड़ेगा। अभी अपने कार्य विचार के आधार पर, मन के स्तर पर होते हैं; वहाँ सहज कर्म होगा, सहजता के आधार पर। संस्कारयुक्त-संस्काराधीन चेतना के बदले संस्कारातीत-संस्कारमुक्त चेतना के आधार पर काम होगा।

हमें भय लगता है इसलिये कि वहाँ "मैं" नहीं होगा; "मैं वैश्विक चेतना का उपयोग कर रहा हूँ"—यह कह पाने की सम्भावना नहीं होगी। अब वैश्विक शक्ति अपने साथ क्या करेगी मालूम नहीं। किसी रमण महर्षि को वह बैठा देती है एक ही जगह, अरुणाचलम् के पास अपने आश्रम में; और किसी नरेन्द्र दत्त को स्वामी विवेकानन्द बनाकर संसार-भर में घुमाती है। किसी रामकृष्ण को रानी रासमणि के बनाये दक्षिणेश्वर-मन्दिर का प्राङ्गण नहीं छोड़ना पड़ता, (विश्वभर के धर्मों-अध्यात्मपथों की साधनायें करना और उनके आगे निकल जाना दक्षिणेश्वर के आस-पास ही हो जाता है) और किन्हीं जे० कृष्णमूर्त्ति को मृत्यु के कुछ दिन पूर्व तक निरन्तर विश्वभर में परिव्रज्या करनी पड़ती है।

वह वैश्विक प्रज्ञा किस के साथ क्या करेगी—यह पता नहीं होता। और हम भय के मारे सोचते हैं कि वह पहले ही बता दे कि हमारे साथ क्या करने वाली है ? तब आगे बढ़ेंगे। आज का हमारा जीवन भले विचार के स्तर पर हो, इन्द्रिय-मन के ही शासन में चलता हो, जो भी हो, इसी में हमें रुचि है, इसमें हमारे निहित स्वार्थ है। वे सुरक्षित रहने चाहियें। हम चाहते हैं कि वैश्विक चेतना हमारे साथ वायदा व ठेका तय कर ले कि आज की हमारी जो जीवन-शैली एवं सुख-सुविधायें बनी रहेंगी; बाहरी स्तर पर कोई परिवर्तन (न्यूनता की ओर) नहीं आयेगा। भीतर के जीवन में उसे जो परिवर्तन लाना हो वह लाये, बाहर को न छुये।—भाई, यह कोई 'Contract marriage' (ठेके वाली शादी) नहीं है; न हो वैश्विक चेतना आपकी मुनीम है कि आपकी सब शर्तों के अनुसार वायदा लिखकर दे दे। यहाँ तो 'दीवाने' होने की—सम्पूर्ण समर्पण की बात है। मौन की वेदी पर अहंकार का उसके सारे दल-बल सहित सर्वथा सम्पूर्ण समर्पण करने का साहस हो तो 'ध्यान-पथ' की बात को

जाय। किन्तु हमें तो अहङ्कार और उसका पसारा प्रिय है; भले ही विचार-स्तर पर, बन्धनों में रहना पड़े, भले ही वह हमें रुलाये, पीड़ा सहन करनी पड़े ! पर 'हम' रोयेंगे, 'हम' हँसेंगे, 'हम' सफल या विफल होंगे ! हमारा अपनापन "मैं" का अस्तित्व बनाये रखना चाहते हैं। मौन में तो 'हम' ही नहीं रहेंगे !—यही भय है।

"खुदा चाहिये तो खुदी मिटा दे ? फ़िदा है तो फ़नाह हो जा !"—यह नहीं करना है। और अध्यात्म में दूसरा कुछ करना नहीं है। यहीं आकर पाँव ठिठक जाते हैं। ज्ञात और शब्द के किनारों तक तो सब जाने को राज़ी हैं। कुछ जिज्ञासा है, कुछ कुतूहल है, कुछ रोमाञ्चक—सनसनीखेज़ करने की उत्तेजना है, साहस की वृत्ति है। पर उस किनारे पर जा खड़े हुए—और पता चला कि यहाँ तो केन्द्र ही विसर्जित हो जायेगा, उसके साथ क्या होगा ? कैसे होगा ? कब होगा ? कुछ जाना ही नहीं जा सकता, जाननेवाला ही बचेगा नहीं। हिसाब हो नहीं सकेगा। तो बस वहीं से आदमी पीछे हट आता है। चाहे भक्तिमार्ग से जाये या ज्ञान-मार्ग से जाये, एक हद तक मनुष्य जाता है, और अज्ञात के भय से ज्ञात में लौट आता है।

इसे मैं शहर-वाले मित्रों से एवं विदेशों में इस ढंग से कहती हूँ कि "There is a structural crisis in civilisation." (मानवीय सभ्यता में संरचनागत संकट है) अनेक ढाँचे बनाये हैं मनुष्यजाति ने—सामाजिक-आर्थिक ढाँचे, राजनैतिक ढांचे—जो आज ढह गये हैं, बदले सन्दर्भों एवं विज्ञान के कारण। पदार्थ-विज्ञान, यन्त्रविज्ञान ने कॅम्प्यूटर बनाकर दिखा दिया है कि जानकारी-संग्रह करना, उसे धारण करना, उसमें संश्लेषण-विश्लेषण (permutation combination) करना, उसमें से निर्णय निकालना, उसके अनुसार प्रतिसाद देना—यह सब यन्त्र कर सकता है। (अर्थात्—The mechanistic cerebral activity has been exposed by Psychology to human intelligence.) इसलिये जैसे बाहर के सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक प्रशासनिक ढांचे संकट में हैं, वे सब आज असंगत हो गये हैं, और नये ढांचे बनाने की ज़रूरत खड़ी हो गयी है, पर पुरानों का मोह छूटता नहीं है; वैसे ही भीतर भी संकट की दशा (crisis) है। यह जो विचारों का ढांचा (thought structure) है, हमारे चित्त में 'अहं' (ego) का एक ढांचा खड़ा है, इसकी व्यर्थता असंगतता, अनर्थकारिता, मर्यादा सब कोई दिखा दे, तो भी उस ढांचे

को छोड़ने की इच्छा नहीं है। वह विचारों का कैदखाना पुराना हो, जर्जर हो, टूटा-फूटा हो—तो भी वहीं पड़े रहेंगे—उसके मोह के कारण।

इसलिये, अध्यात्म वस्तुतः कठिन नहीं है, कम से कम संसार की तुलना में तो कठिन नहीं है। संसार बहुत कठिन है। मन में एक रखो, वाणी में दूसरा रखो, करने में कुछ तीसरा ही आये, इसके साथ जटिलता, उसके साथ कुटिलता,—यह गोरख-धन्धा आप लोग कैसे निभाते होंगे—आप जानें! अध्यात्म तो बहुत सरल है। संसारियों को देखकर दिन में दसबार उन्हें प्रणाम करने की इच्छा होती है कि इतने सारे अन्तर्विरोध वे अपनी हाड़-मांस की थैली में कैसे रखते हैं? अध्यात्म तो बहुत सरल है, जो अन्दर सो बाहर। ऐसी सरलता जीवन में आये, ज्ञात का किनारा छोड़कर अज्ञात में यात्रा करने की प्रेरणा आप में जागे—ऐसी प्रार्थना है।

- जीवन की समग्रता को पहचानना ही जीवन का अध्यात्मीकरण है। श्वासोच्छ्वास से लेकर जो भी कर्म होते हैं, वे समग्रता के आलोक में हों, यही अध्यात्म है।
- अज्ञात की सुन्दरता ही इसमें है कि उसमें अज्ञात भवितव्यता है, विश्वसनीयता का अभाव है। जीने का मजा तो इसी में है कि उसमें अनिश्चितता है। अज्ञात में भय कहाँ? जीवन तो वह है जो निर्भय साहस से खड़ा होता है। अज्ञात में ही तो जीवन का 'रोमांस' है।
- भयग्रस्त लोग क्या अध्यात्म की खोज करेंगे? जिन्हें मृत्यु से भय है, हानि से भय है, जिनके लिये भक्ति-ज्ञान-साधना-तपस्या सब कुछ सौदा ही है, ऐसे मानस में सत्य की जिज्ञासा का स्पर्श नहीं हो सकता।
- अध्यात्म है—जीवन की गति में, उसकी लय में अहंकार का विलय करके जीना। बल्कि जीवन की गति बन जाना ही अध्यात्म है।

पञ्चम प्रवचन

दि० १९-२-८९ सुबह १० बजे

मनीषीवर्य काकासाहेब कालेलकर ने एक ग्रन्थ लिखा है—"भारत की लोकमातायें"। उन्होंने नदियों को संज्ञा दी है 'लोकमाता'। भारत की नदियों की विशिष्टता एवं लाक्षणिकता का उसमें वर्णन किया है। ज्ञानप्रिया गङ्गा, भागीरथी, भक्तिप्रिया यमुना, तपप्रिया रेवा (नर्मदा)—ऐसा कहा है। नर्मदा के किनारे लोग हमेशा तप करने आते रहे हैं। आपने भी शिबिर के लिये यह रेवा-तट का स्थान चुना है; पाँच दिन के लिए ही सही, यहाँ आये हैं, भले तप की इच्छा से न आये हों, पर अपनी सन्तानों से थोड़ा तप तो रेवा-मैया करा ही लेंगी।

"सुख-दुःखे समे कृत्वा"—सुख की श्लाघा नहीं, दुःख की निन्दा नहीं—इस भाव से जीवन जीना अपने आप में तप बन जाता है। कल विषय चल रहा था कि जीवन के परम-चरम सत्य का स्वरूप है सत्तामात्रता सत्तात्मकता The Ultimate Reality of life is Isness. जहाँ गतियाँ स्थिति में समायी हुई हैं। यह सर्वव्यापिनी सत्ता अनन्त ऊर्जाधारिणी है। वे ऊर्जायें अपनी मर्जी से कभी स्पन्दनों का रूप धारण करती हैं। Physicist कहते हैं—

"The energies are self-activated. They become active when they will it so."

मैंने उन वैज्ञानिकों को पूछा कि यह self-activisation कैसे होता है? वे बोले—ऊर्जाओं की अकारण इच्छा से होता है।

अपने यहाँ (भारतीय चिन्तन में) सर्वव्यापिनी सत्ता में समायी इच्छा शक्ति को 'माहेश्वरी' कहा गया; उसे शिव की शक्ति, माधव की राधा, राम की सीता कहा गया। सत्तात्मक तत्त्व और ऊर्जारूपिणी शक्ति एकरूप होकर सर्वव्याप्ति में विराजते हैं। इसके अनन्त रूप हैं। सत्ता है सत्त्व (यानी होनापन); वह जहाँ ऊर्जारूप में प्रकट, व्यक्त हुआ उसे 'विभूति' कहा गया। सत्ता में जो ऊर्जा के स्पन्दन अकारण स्फुरित

होते हैं वह तत्त्व का तेज हुआ। ऊर्जायें अनगिनत हैं, अतः विभूतियाँ अनन्त, असंख्य हैं। समझने के लिये कुछ ऊर्जाओं का निर्देश किया जा सकता है, जैसे कि गीता में भगवान् वासुदेव ने अर्जुन को समझाने के लिये (दसवें अध्याय में) कुछ विभूतियाँ बतायीं, फिर कहा कि ये उदाहरण-मात्र के लिये कही हैं, विभूतियाँ अनन्त हैं, यह मत समझना कि जितनी कही गयीं उतनी ही हैं।

ऊर्जा का प्रकटीकरण याने तत्त्व में समाये हुए तेज का प्रकटीकरण—यही विभूति का प्राकट्य है। इन विभूतियों को प्रकट होने के लिये पदार्थ का, सघनता का आधार लेना पड़ता है। The activised innumerable energies through actions and interactions get solidified and appear as solid objects. जो घन पदार्थ हमें दिखते हैं, जिन्हें हम स्पर्श कर सकते हैं, सूँघ सकते हैं, चख सकते हैं—वे ऊर्जाओं का ही घनीभूत रूप हैं।

सत्ता में जो स्थिर हो गया, पदार्थों की आसक्ति से मुक्त हुआ; ऊर्जाओं के मादक आकर्षण से भी ऊपर उठा,—वह व्यक्ति योगारूढ़ हो गया। "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः"—वहाँ वृत्तियाँ निःशेष रूप से विसर्जित हो गई हैं, नष्ट नहीं। प्रवृत्ति विसर्जित है, निवृत्ति भी विसर्जित है, कोई वृत्ति रही नहीं। यह एक जीवन जीने का आयाम है।

इस विषय को आज एक अलग दृष्टि-बिन्दु से सोचना है। यह जो चैतन्य को सर्वव्याप्ति है, सर्व में ओतप्रोत होना है, यह अध्यात्म का अधिष्ठान है। इस सर्वव्याप्ति का भान रहे तो मनुष्य के मन में किसी विशिष्ट रंग-रूप-आकार-व्यक्ति-पदार्थ-परिस्थिति-विषय के लिये आग्रह नहीं रहता है। आग्रहों का जाल टूट जाता है, आसक्तियों की माया बिखर जाती है। सभानता-सजगता (Awareness) से यदि यह नहीं हुआ तो मानना चाहिये कि अध्यात्म के नाम से हम किसी कल्पना-सृष्टि में हैं, वाणी का विलास, शब्दों का शृङ्गार करते हैं, दिवास्वप्न देखते हैं, मुक्ति का अभिनय करते हैं। इससे कुछ बनता नहीं है। सही माने में, सर्वथा सब प्रकार से सत्ता में प्रतिष्ठित और सत्ता का अनुसन्धान रखते हुए जीने वाले दस व्यक्ति भी भारत में हों तो भारत के सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक जीवन का कायापलट हो जाय, देश का आमूलाग्र

परिवर्तन हो जाय। वह होता नहीं है क्योंकि धर्म-अध्यात्म के नाम से कुछ घण्टों, कुछ दिनों, कुछ सप्ताहों का अभिनय करने में ही हम रह जाते हैं।

यह देखा गया कि भारतीय भाषा में जिसे 'परमात्मा' या 'भगवान्' कहते हैं वह अनन्त ऊर्जाओं से सजी हुई एकमात्र अखण्ड सर्वव्यापिनी सत्ता है। निखिल सृष्टि में असंख्य ब्रह्माण्डों में अणु-रेणु में वह एक ही सत्ता व्याप्त है अतः वह भव्य तो अवश्य है, पर उसे दिव्य क्यों कहते हैं ? उसकी दिव्यता का अर्थ समझ लें तो और भी गुणात्मक परिवर्तन हमारे जीवन में आ सकेगा।

दिव्यता का आशय यह है कि असंख्य ब्रह्माण्डों वाली सृष्टि (the cosmos) में जो कुछ भी है वह सब परस्पर सम्बन्धित है, एक-दूसरे से गुंथा हुआ है। चैतन्य की सर्वव्याप्ति से यह जाना गया कि समस्त सृष्टि एक समग्र पूर्णता (indivisible wholeness of totality) है। दिव्यता का आशय है कि सृष्टि में दृश्य-अदृश्य जो कुछ भी है वह परस्पर सम्बद्ध-संग्रथित है (Every thing, every particle of the universe visible & invisible—is interrelated.) केवल Interconnected (एक दूसरे से जोड़ा हुआ—सम्पर्क में लाया हुआ) नहीं; ऐसा सम्बन्ध जोड़ना या सम्पर्क में लाना तो मनुष्य स्वयं भी कर सकता है, और चाहने पर उन (अपने जोड़े) सम्बन्धों को तोड़ भी सकता है, किन्तु सृष्टि संरचना से ही परस्पर सम्बन्धित है। जैसे हमारे पाँव के अंगूठे का सम्बन्ध मस्तिष्क से है; हाथ की उंगलियों का सम्बन्ध हृदय से है, पाँव के तलुए में भी आँखें हैं। स्पर्श से ही पदार्थ को समझने की दृष्टि है, पूरे शरीर की त्वचा में, तलुए में भी। केवल परस्पर जुड़े होने और सम्बन्धित होने में जो मूलभूत अन्तर है उसे हम समझ लें।

अध्यात्म में पहला और अन्तिम कदम यही है—समझने का पुरुषार्थ करना। समझने के बाद 'करना' नहीं 'जीना' होता है। जो जाना गया उसे जीना। जो जाना गया उस पर रुक गये तो विद्वान् या पण्डित बनेंगे, ज्ञानी बनेंगे; लेकिन जीवन की सार्थकता-समृद्धि-परितृप्ति केवल ज्ञान में नहीं है। ज्ञान जब जीने के कर्म में उतरता है और बोध में परिणत होता है, बोध का सौरभरूप सहजता जब जीवन को सुरभित कर देती है, तब ज्ञान सार्थक होता है। उस सहजता तक हमें पहुँचना है।

The content of divinity is the interrelatedness of everything or every being in the universe in the cosmos. घास के तिनके में, मिट्टी के कण-कण में वह सत्ता एवं ऊर्जा है। 'everything' कहना अधूरा रहता है 'being' में कुछ अधिक अर्थछटा आती है, वह शायद सम्यक् शब्द हो। भारतीय भाषा में इसीलिये ईश्वर को 'भूतमात्र' या 'सर्वभूत' में निवास करने वाला कहा गया। यह परस्पर सम्बन्धितता ही दिव्यता, भगवत्ता, पवित्रता का आशय है। धरती की सागर से, सागर की गगन से, गगन की वृक्षों से कैसी मधुर सम्बन्धितता है? सागर का खारा पानी बादल बनता है और मीठा अमृत बनकर बरसता है। उसमें जीवन का कौन सा रसायन-रहस्य (Alchemy of life) काम करता है? नन्हें बीज आप धरती में बो देते हैं और एक में से सहस्र पैदा करके धरती आपको लौटाती है। यह रहस्यमयी सृजनशीलता तथाकथित 'जड़ मिट्टी' में कैसे पड़ी है? बीज में कैसी प्रज्ञा है कि वह जानता है—धरती से कौन-सा खाद्य लेना—जल-धूप-ज्योत्स्ना-पवन से कौन से रस लेना कि उसके अनुरूप ही पत्ते-फूल-फल-रंग-रूप में पौधा बने-विकसे! पौधा वृक्ष बनता है—फूलता-फलता है, फिर बीज रूप धारण करके आपके सामने आ जाता है। यह एक रहस्य है।

सर्वव्याप्ति परमात्मा का एक पहलू है और 'सर्व' की परस्पर सम्बन्धितता दूसरा पहलू है। मेरे देखे मनुष्य जाति पदार्थविज्ञान, रसायनविज्ञान, यन्त्रविज्ञान, मनोविज्ञान आदि के द्वारा कितनी भी कोशिश करे पर प्रभुसत्ता की इस दिव्यता भव्यता या माया का रहस्य पकड़ नहीं पा सकती कि परस्पर सम्बन्धितता में ही जीवन है और वह सम्बन्ध तोड़े जाने पर या टूट जाने पर विनाश होता है। अनन्त ऊर्जाओं के आघात-प्रत्याघात और प्रवाहिता चलती ही रहती है।

The activisation of energy, the nebulous state of those energies, then their taking up the form of a vibration, & having vibrational existence, and through interaction of those vibrations getting solidified gradually and slowly, very systematically.

ऊर्जा का क्रियाशील होना, असंख्य ऊर्जाओं की पहले मिली-जुली अव्याकृत भ्रूण-तुल्य स्थिति, फिर उनका स्पन्दनात्मक आकार लेना, इन

स्पन्दनों का परस्पर आघात-प्रत्याघात व समागम से क्रमशः धीरे-धीरे बड़ी व्यवस्थित रीति से घनीभूत होते जाकर पदार्थ रूप में प्रकट होना—यह बहुत बड़ा रहस्य है। मनुष्य अपनी बुद्धि से लाख कोशिश करे, तो भी सर्वव्याप्ति में समाया हुआ यह जो सर्वसम्बन्धितता का वैभव है इसे अपनी यान्त्रिक क्रियाओं में नहीं ला पायेगा। किन्तु विज्ञान और अध्यात्म का समन्वय होगा और इनका समन्वित जीवनदर्शन (२१वीं सदी बीतने तक) दुनिया के सामने आयेगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। क्रान्तदर्शी सन्त विनोबा १९५७ में दक्षिण भारत की यात्रा के समय कह गये कि विज्ञान के साथ हिंसा जुड़ी है, इसलिए वह मानवजाति को विनाश की ओर घसीटता ले जा रहा है, लेकिन मानवजाति इस प्रकार सामूहिक आत्मनाश के लिये पैदा नहीं हुई है। इस विज्ञान का समन्वय अध्यात्म के साथ होगा। उनमें से एक वैकल्पिक अहिंसक समाज का जन्म होगा। भारत के लोग पहले यह करें या न करें, संसार के किसी अन्य देश के लोग करेंगे। उसका प्रारम्भ और विकास कब-कहाँ होगा—यह गौण बात है, किन्तु वह होना अब इतिहास की आवश्यकता है।

The synthesis of Science and Spirituality and a new wholisic perspective of total life, a lifestyle based on that wholistic perspective is a historical necessity now.

बड़े भाग्यशाली हैं जो आज नौजवान हैं। वे मानवजाति के इस साहस में शामिल होंगे और वह युग भी देखेंगे जहाँ आज के सभी सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक-धार्मिक-साम्प्रदायिक ढाँचे ढह जायेंगे। वैकल्पिक संरचनाओं का प्रारम्भ होगा।....इसे यहीं रहने दें, आज अपना विषय कुछ अलग है।

यह जो परस्पर-सम्बन्धितता का रहस्य है उसका स्वीकार होना चाहिये। उन्हीं रहस्यों में मृत्यु भी एक रहस्य है, जो पहले से जानी नहीं जा सकती (The unpredictability of death.) ज्योतिष् शास्त्र का, गणित-शास्त्र का उपयोग करना, चिकित्सा शास्त्र के आधार से कुछ कहना, या अन्य किसी प्रकार से अनुमान लगाना होता रहता है, लेकिन मृत्यु-सखा का आगमन, प्राण-प्रयाणोत्सव का आमन्त्रण जीवन-काव्य का एक निगूढ़ अंश है। ख्याल रखें कि जो जीवन-पद्धति मनुष्य ने आज बनाई

है, जो समाज-रचना व अर्थव्यवस्था खड़ी की है, उसके कारण होने वाले परस्पर के खून व हत्यायें, या रास्तों पर होने वाली आकस्मिक दुर्घटनाओं से प्राण चले जाना या आत्मघात—ये मुझे मृत्यु शब्द से अभिप्रेत नहीं, यह तो मृत्यु की विडम्बना करने वाला विनाश है। लेकिन जो स्वाभाविक मृत्यु देह के जन्म-वृद्धि-क्षय के बाद का कदम है, उसमें से गुज़रना होता है।

Genetic engineering के नाम पर जन्म के रहस्य की चीरफाड़ चल रही है, एक भयानक आसुरी प्रयोग चल रहा है। वह कहाँ तक ले जायेगा मनुष्य को—यह मैं जानती नहीं हूँ, लेकिन जन्म व मृत्यु की अकथनीयता और जीवन में सभी कुछ की परस्पर सम्बन्धितता—पञ्च-महाभूतों की, सृष्टि और मानव की, मानव एवं अन्य प्राणी-वर्ग की सम्बन्धितता एक निगूढ़ रहस्य है। आज इन दोनों पहलुओं पर विचार करना है। १–सर्व में ओतप्रोत प्रज्ञा—(the supreme Intelligence) जिसके सञ्चारण में देखना ही जानना बनता है, और जानना ही प्रतिमाद देना बन जाता है, सहजता का आयाम जागृत होता है, वह एक पहलू और २–यह परस्पर सम्बन्धितता दूसरा पहलू। इसका साधक के जीवन पर क्या परिणाम होता है, तथा 'अथातो आत्मजिज्ञासा, जीवनजिज्ञासा' वाले व्यक्ति इन दोनों पहलुओं को किस प्रकार देखें, इन तथ्यों के साथ किस प्रकार व्यवहार करें, इस सत्य को किस दृष्टिकोण से समझें—इस विषय पर आज मैं आपके साथ कुछ सहचिन्तन करना चाहती हूँ।

यदि शब्दों की मदद से सचमुच प्रज्ञा व सत्ता के सर्वत्र-सर्वदा-सर्वथा व्याप्त होने का संकेत समझ में आ जाय, सत्ता की सर्वत्र उपस्थिति का बोध हो जाय, तो मनुष्य के जीवन में दो चीजें हट सकती हैं—हट जाती हैं—एक–अकेले होने का डर (The fear of loneliness)। वह भय फिर नहीं रह सकता क्योंकि आपके साथ, आपके भीतर व बाहर, सब तरह से आपको घेरे हुए वह सत्ता सर्वत्र-सर्वदा विद्यमान है। अकेले आप हैं ही नहीं। क्योंकि उस सत्ता के बिना कहीं कुछ है ही नहीं। होनेपन का अर्थ ही उस वैश्विक चेतना व ऊर्जा का होना है।

यह सिद्धान्त नहीं कह रही हूँ। सिद्धान्त तो पण्डित कह सकते हैं, मुझ में पाण्डित्य नहीं। बचपन में—पाँच वर्ष की उम्र में "जीवन" ने

दिल चुरा लिया, जीवन के ऐश्वर्य ने आँखें चुरा लीं। हम जीवन जीते आये हैं, जिन्दगी में और तो कुछ किया नहीं। ज्ञानप्राप्ति का व्यापार न हो पाया, शास्त्रों का अध्ययन न हो पाया; और ज़िन्दगी जीते-जीते जो समझ खिलती गयी वह (जैसे आप मिठाई बाँटते हैं वैसे) बाँटते हुए जीना चल रहा है। उसी प्रत्यय से कह रही हूँ कि यदि सत्ता व ऊर्जा की सर्वव्याप्ति एवं सृष्टि के सब कुछ की परस्पर सम्बन्धितता का बोध हो जाय तो "मैं अकेला हूँ" "मेरा कोई नहीं ?" यह भ्रम दूर होगा; बुद्धि निर्भ्रान्त हो जायेगी, चित्त निःसंशय होगा और इससे एक नई शक्ति का सञ्चार पूरे अन्तर्बाह्य अस्तित्व में होगा। भक्तों की भाषा में—"जहाँ जायें वहाँ प्रभु विद्यमान हैं।" किसी विशिष्ट रूप में भले दिखते न हों, लेकिन जहाँ आपके जीवन की सच्ची आवश्यकता होगी वहाँ आपका हित करने वाला कार्य हो ही जायेगा—निमित्त कोई भी बने। मदद करने वाला व्यक्ति कौन होगा ? मदद का प्रकार क्या होगा ? कब किस तरह मदद मिलेगी—इसका हिसाब बुद्धि नहीं लगा सकती। क्योंकि बुद्धि एकदेशी है, इसलिए सर्वात्मक की गति को हम पकड़ नहीं पाते। When the help is really needed, not imagined by you, It helps. मदद की वस्तुतः आवश्यकता होना और मन द्वारा आवश्यकता खड़ी की जाना—इन दोनों में फ़र्क है। अधीरता के कारण, लोभ-लालच के कारण हम मान लेते हैं कि हमें आवश्यकता है। हमारे मानने से काम नहीं चलता। क्योंकि वैश्विक ऊर्जा कोई अन्धशक्ति नहीं, वह तो चैतन्यस्वरूपिणी है। वह देखती है, जानती है कि कहाँ हमने प्रमाद किया है ? कहाँ तक पुरुषार्थ किया है, कितना ग़लत ढंग से जिये हैं। कहाँ अभिनय-पाखण्ड किया है ! वैश्विक चेतना की मदद सच्चे संकट के क्षण में—आपत्काल में मिलती है। पर हम उस क्षण तक पहुँचते ही नहीं। पहले ही भयभीत हो जाते हैं।

उस सत्ता पर श्रद्धा हो, उसकी चैतन्यमयता एवं सर्वदा सर्वत्र उपस्थिति का बोध हो तो भय नहीं, भय की विरोधिनी निर्भयता नहीं, समग्र अभय उदित होता है। सारे व्यक्तित्व में रग-रग में अभय का सञ्चार होता है। निर्भयता तो भय के विरोध में विकसाई जाती है (The Bravery is cultivated as an opposition to fear.) उसकी बात नहीं कह रही

हूँ। अभय तो वीरता-शौर्य एवं सर्वथा भयमुक्ति एक साथ है। द्वैत के दोनों बिन्दुओं या छोरों (ends) से मुक्ति ही यथार्थ मुक्ति है। द्वैत में जो द्वन्द्वभाव पैदा कर लेता है मनुष्य, उस द्वन्द्व से मुक्ति ही निर्द्वन्द्वता है। "अद्वय" 'अद्वैत'-शब्द को चबा कर-चख कर देखें तो सही! हम शब्दों को चबाते नहीं हैं, इसीलिये रस भीतर नहीं उतरता—बात समझ में नहीं आती।

दूसरा पहलू है सम्बन्धों के रहस्य का। यदि समझ में आ जाय कि जीवनसत्ता से ओत-प्रोत समस्त सृष्टि की परस्पर सम्बन्धितता-रूपी दिव्यता एक रहस्य है, बुद्धि से उसको पकड़ने की चेष्टा मूढ़ता है, तो मनुष्य के चित्त में एक अभिजात विनय और विनम्रता का सञ्चार होता है। (A spontaneous elegant humility, not a cultivated modesty)

हृदय में जागृत हुए इस अभिजात विनय व विनम्रता का जीवन पर क्या परिणाम होगा? वहाँ भय का समूल निराकरण होगा। भय-बीज न रहने पर किसी से द्वैष-वैर-ईर्ष्या नादानी लगती है। जीवन की दिव्यता—परस्पर सम्बन्धितता के रहस्य का बोध होने पर, विनय ही जीवनस्वर बनने पर, जीवन की शैली बदल जाती है। अपनी बुद्धि, समझ व शक्ति के अनुसार मनुष्य जीता चला जाता है। उसी बल पर समस्याओं का सामना करता, परिस्थितियों के आह्वान झेलता चला जाता है। समझ-पूर्वक कर्म करता है, फिर भी उसने अपने कर्मों के जैसे परिणाम की कल्पना या आशा रखी हो वैसा परिणाम न आने पर, विपरीत ही फल होने पर भी वह निराश या हताश नहीं होता। वह यह समझता है कि शायद मेरे कर्म में कोई अवैज्ञानिकता रह गई हो; शायद मेरा चित्त शुद्ध न हो, शायद समय प्रतिकूल हो, तो दुबारा प्रयत्न करके देखेंगे। यदि विश्वास हो कि प्रयत्न में अपनी तरफ़ से कोई कमी नहीं रही है, शुद्ध प्रयत्न था, फिर भी फल प्रतिकूल हो तो उसके चित्त में कोई शिकायत नहीं पैदा होती कि—"मेरे साथ ऐसा क्यों हुआ? "मेरे रहते जवान बेटा-बेटी-जमाई-भाई की मृत्यु क्यों हो गई?" "मेरे परिवार में सज्जन व्यक्ति की भी अप-मृत्यु क्यों हुई?" "मेरे ही साथ अन्याय क्यों किया जा रहा है? दूसरों

को तो अशुद्ध या ग़लत बर्ताव के बावजूद अच्छा फल व सुख मिल रहा है, मुझे क्यों दुःख ही झेलना पड़ता है ? स्नेही-जनों से भी तिरस्कार क्यों मिलता है ?"—ये ग़लत सवाल हैं। जैसे आप पूछें कि "भगवान् ने ऐसी सृष्टि क्यों पैदा की ?"—मानो भगवान् नाम का कोई व्यक्ति है, उनका कोई मानस है, जिससे हेतु-प्रयोजन-पूर्वक वे काम करते हैं। हम अपना ही मनुष्य का मानस (human psychology) परमात्मा (Divinity) पर लादते हैं और पूछते हैं—"यह क्यों किया ? वैसा क्यों किया ?"

विनम्रता में ऐसा नहीं होता। पुरुषार्थ की पराकाष्ठा के साथ-साथ परम शरणागति बनी रहती है। जो भी परिणाम आये उसका स्वागत है, वह यश हो या अपयश; सुख हो या दुःख, सन्मान हो या उपेक्षा हो—अपनी ओर से कर्म में कोई कसर नहीं रखी गयी, अपनी पूरी शक्ति व समझ लगा कर दायित्व निभाया है। परमात्मा सामने आकर खड़े हों तो कहा जा सकेगा कि सब दायित्व प्रामाणिकता से निभाये गये हैं, प्रयत्न में कोई कमी या प्रमाद नहीं रखा गया। इसका सन्तोष रहता है।

पुरुषार्थ की पराकाष्ठा पर आकर प्रार्थना खड़ी हो जाती है। प्रमादी को प्रार्थना का अधिकार नहीं है। प्रमाद तो पलायनवाद है। जो पुरुषार्थी है, जो जीवनसत्ता द्वारा मिली हुई शक्तियों—तन-मन-बुद्धि—को खूब निचोड़-निचोड़ कर प्रयत्न को सींचते हुए कर्म करता है,—वह प्रयत्न के सफल न होने पर प्रार्थना कर सकता है कि "प्रभु ! प्रयत्न में जो त्रुटि रह गयी हो—उसके कारण आयी हुई विफलता व प्रतिकूलता को सहन करने की शक्ति दीजिये !" कुन्ती ने श्रीकृष्ण से माँगा था—

"विपदः सन्तु नः शश्वद्"—लोग समझते हैं कि विपत्तियाँ माँगी थीं; पर वस्तुतः उन्होंने माँगी थी विपत्तियों को सहन करने की शक्ति।

पुरुषार्थ पूरा करने के बाद बुद्धि जीवनविभु सत्ता के सम्मुख मौन हो जाती है। वह बुद्धि का मौन ही सच्चा समर्पण है। प्रयत्न करने से पहले समर्पण नहीं हो सकता। आप यह नहीं कह सकते कि "गाड़ी और बैल का सम्बन्ध होने से चलने वाली गाड़ी बनती है, तो बैलों को गाड़ी के आगे बाँधों या पीछे बाँधों—इससे फ़र्क नहीं पड़ना चाहिये !" नहीं, बैलों को जहाँ बाँधने से गाड़ी में उचित गति आयेगी वहाँ ही

बैलों को बाँधा जाना चाहिये। उनका स्थान नहीं बदला जा सकता। वैसे ही प्रयत्न एवं प्रार्थना का स्थान बदला नहीं जा सकता। सजगता, सभानता, समझ के साथ पुरुषार्थ हो—वहीं प्रार्थना सार्थक होगी।

विनय एवं विनम्रता के कारण जीवन में सभी सम्बन्धों के प्रति एक प्रार्थनामय अभिगम (attitude, opproach) बन जाता है। शिकायत नहीं रहती। हमारे दिलों में कितनी ही शिकायतें हैं अपने खिलाफ़, जीवन के खिलाफ़; उनका घर्षण चलता है। उससे भीतर छीजन (wear & tear) होती जाती हैं; आकुल-व्याकुल रहते हैं।

खैर, साधक की साधना में इन दो पहलुओं की किस प्रकार आवश्यकता है—यह विषय यदि कुछ स्पष्ट हुआ हो, तो और एक मुद्दे को देखें, कि क्या साधक को साधना के लिये मार्गदर्शक की—'गुरु' की आवश्यकता नहीं है ? यदि आवश्यकता है तो गुरु कहाँ से आयें ? कैसे मिले ? गुरु-शिष्य-सम्बन्ध किस प्रकार हो ?

'गुरु' शिष्य'—ये शब्द 'पद'-वाचक या अवस्था वाचक हैं। शिष्यत्व और गुरुपद चेतना की एक-एक अवस्था हैं। शिष्य शब्द से ही सूचित होता है कि सीखने की प्रबल आकांक्षा है, और सीखने के लिये नित्य तत्पर है। सीखने की आकांक्षा और तत्परता—दोनों मिलकर चेतना में शिष्यत्व निष्पन्न होता है। आप कहेंगे कि वह (सीखने की चाह व तैयारी) तो सब में होती है। किन्तु, मेरा ऐसा अनुभव नहीं है। इस देह के प्रारब्धवश पिछले ३७–३८ वर्षों से निरन्तर देश-विदेश में घूमना हुआ है, पहले भारत में, फिर योरोप में, फिर तो विश्व भर में। इस परिव्रज्या में अत्यधिक लोकसम्पर्क हुआ है। इसमें दिखाई यही दिया कि सीखने की इच्छा बहुत ही कम में रहती है। जानने की इच्छा बहुतों में होती है। एक बौद्धिक कुतूहल रहता है। पुस्तकों से, व्याख्यानों-भाषणों से, सभाओं-गोष्ठियों में से जानकारी हासिल करने की पड़ी रहती है।

आधुनिक मनुष्यों में ९०% को यह शौक होता है। पर सीखने और जान लेने में अहुत अन्तर है। जानने में तो—जो जानकारी मिली उसमें से जितना रुचिकर लगा उतना पास रखा, जो अरुचिकर लगा उसे छोड़ दिया। जैसे न रुचने पर किताब बन्द करके रख देते हैं।

सीखने में यह रुचि-अरुचि का सवाल नहीं है। सीखना होता है धारण करने के लिए; ज्ञान होता है संचय करने के लिये। सीखने में जो बोध होता है उसका संचय नहीं किया जाता, वह तो जीवन का शील बनता है। सीखने में कभी ऐसी वास्तविकता सामने आती है जो अनुकूल नहीं, सुखद नहीं, उसका भी पूरी तरह स्वीकार करना होता है, अपना निरीक्षण करते समय (in observation) भीतर काम-क्रोध-द्वेष-ईर्ष्या दिखें तो उससे चित्त में उद्वेग न हो, विषाद न हो, जो है उसे खतम करने—हटा फेंकने—मिटा डालने की अधीरता न हो। यह नहीं हो पाता क्योंकि अपने बारे में जो धारणायें बना रखी हों वे टूट जाती हैं भीतर का चित्र देखने से; अहङ्कार घायल होता है, वह न आगे देखने के लिये राजी है, न पीछे हटने को राजी है; वह उद्विग्न होकर बैठ जाता है। आहत-घायल अहंकार वहीं का वहीं ढेर हो बैठता है—"गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक् चैव परिदह्यते।"—वैसी हालत हो जाती है। या कुछ अनुकूल दिखा तो अहंकार फूल कर कहता है—"मुझमें इतने गुण हैं जो दूसरों में नहीं।" इसी में अटक जाता है। क्योंकि वहाँ आप रुचिकर-अरुचिकर का मापदण्ड या कसौटी नहीं लगा सकते; जो तथ्य सामने आयें उन्हें स्वीकार नहीं कर सकते। सीखने का कर्म तपोमयी पूजा है जीवन की।

हृदय में सीखने की आकांक्षा हो और इन्द्रियों में उसके लिये तत्परता हो तभी वह पूजा-कर्म हो पायेगा। इच्छा कितनी भी हो, पर शरीर यदि शिथिल-जड़ हो गया हो, आलस-प्रमाद ने इन्द्रियों को भारी भरकम बना दिया हो तो किसी प्रकार का अभिक्रम लेने की शक्ति नहीं रहती। इन्द्रियों को योग्य आहार-विहार देकर लचीला-स्फूर्तिमय-कार्योत्साही बनाये रखना होता है। सीखने की इच्छा और इन्द्रियों की तत्परता—दोनों का जब संवाद हो जाता है तब शिष्यत्व निष्पन्न होता है। जिस क्षण सीखने की इच्छा जागी हो उसी क्षण से सीखना आरम्भ किया जाता है। जितनी समझ है उसे जीना शुरू कर दें तो जीवन आगे सिखाना शुरू करता है। आप इसे आज़मा कर देखें। समझ के साथ समझौता न करें। आपकी आदतों को बीच में न आने दीजियेगा। वह आदत खाने-पीने की हो, कपड़ों के बारे में हो, परिवार व सहकर्मी लोगों के साथ, पड़ोसियों के साथ व्यवहार के बारे में हो, निसर्ग व

सृष्टि के साथ सम्बन्ध की बात हो। आप अपनी समझ के प्रति प्रामाणिक रहें, जितनी सी आपकी समझ है उसे आप जीना शुरू कर देंगे तो जीवन जीने में जिस-जिस से आपका सम्बन्ध आता है वे पदार्थ भी आपको सिखाने लगेंगे, आपका शरीर भी कुछ सिखाने लगेगा। अन्न-पानी, फल-फूल भी सिखाने लगेंगे।

जिज्ञासा का आरम्भ हुआ, आप सत्संग में गये, या गीताजी का बारहवाँ अध्याय पढ़ा, स्थितप्रज्ञ के लक्षण पढ़े। आप के चित्त में आया कि ऐसे भक्त के लक्षण मुझमें हों, स्थितप्रज्ञ की अवस्था हो। उसके लिये जैसा सूझा, वैसा प्रयत्न करने लगेंगे। पहले आप ससारी व्यक्ति थे, संसारी से जिज्ञासु बने, जिज्ञासु से फिर सत्सङ्गी बन गये। फिर देखा कि सत्सङ्ग के बावजूद, अध्यात्मविषयक ग्रन्थों के अध्ययन के बावजूद कुछ काम नहीं बन रहा हैं; संसारी में से सत्सङ्गी बनने का पुरुषार्थ आपने किया; ऐसे पुरुषार्थ के बावजूद प्रयत्न करते-करते अब चित्त भी रुक गया है; ऐसे संकट का पल जीवन में आ जाय तब वह शुभ मुहूर्त्त है—गुरुपद में विराजित व्यक्ति से आपका मिलन होने का। शिष्यत्व जागृत हुए बिना गुरु से मिलन हो जाय यह मेरी दृष्टि से अवैज्ञानिक है। हम खोजने निकलते हैं और अपने मन के अनुकूल गुरु खोज लेते हैं, चुन लेते हैं, स्वयंवर कर लेते हैं—यह बात अलग है। क्योंकि मन को आधार चाहिये, कुछ आश्रय चाहिये—यह मन की आदत है। तो आधार या आश्रय के लिए भले खोज लीजिये किसी को। मैं तो गुरु-तत्त्व गुरुपद की बात कर रही हूँ। गुरुपद क्या है? इसे थोड़े में समझ लें। जहाँ तक हमारा देखना पहुँचा है, वहाँ तक की बात कहते हैं, कि, जिसकी चेतना में से अहं नाम का केन्द्र (the-'I'ness the consciousness, the Ego in the center) विसर्जित हो गया है। केवल प्रवचन करते समय के लिए नहीं, दो घड़ी-चार घड़ी के लिए नहीं, उनके जीवन के प्रत्येक कर्म में, कायिक-वाचिक-मानसिक व्यवहार में, हलन-चलन में प्रत्येक स्पन्दन में अहंरहितता (Egolessness) का ऐश्वर्य प्रकट होता है।

ऐसे केन्द्रमुक्त एवं परिधिमुक्त चेतना के आयाम में जो प्रतिष्ठित हो गया है, वह गुरुपद में स्थित है। "मैं हूँ" "मैं इस देह में ही हूँ" "मैं भारतीय हूँ-जैन हूँ-सिख हूँ-हिन्दू हूँ-मुस्लिम हूँ" "मैं स्त्री हूँ-पुरुष हूँ"

"मैं ज्ञानी हूँ-धनी हूँ"—इत्यादि जो ग्रन्थि "मैं" के साथ जुड़े होते हैं—वैसा कोई ग्रन्थि वहाँ नहीं है। (There is a consciousness totally emptied of all images) अपने बारे में कोई धारणा-मान्यता है ही नहीं; निर्ग्रन्थ है, विचार-विकार आदि ग्रन्थि तो नहीं ही हैं, अपने होनेपन (मैं-पन) का ग्रन्थि भी वहाँ नहीं है। अर्थात् केवल वैश्विक चेतना ही उस देह में शेष है। तबला-ढोलक-मृदङ्ग बजता है न! उसमें से कितनी तरह के बोल वादक-कलाकार की अंगुलियाँ निकाल लेती हैं, पर ढोलक में भीतर क्या है? केवल शून्य। शून्य ही चमड़े से मढ़ा हुआ है, स्पर्श की गुणात्मकता से उस शून्य में से निकलते हैं 'बोल'। उसी प्रकार केवल वैश्विक चेतना वहाँ रह गयी है।

उस वैश्विक चेतना का धर्म है शिष्यत्व धारण किये हुए व्यक्ति को सहाय देना, जैसे सूर्य का धर्म प्रकाश है। ऐसे गुरुपद में स्थित व्यक्ति से शिष्यत्व की दशा वाले व्यक्ति का मिलन घटित होता है। जीवन वह करा देता है। या तो उस व्यक्ति को आपके दरवाजे पर ले आये जीवन, या आपको वहाँ पहुँचा दे। संयोग होता है, सम्पर्क आता है। कभी उपस्थितिमात्र से, कभी वाणी के शब्दों से, कभी स्पर्श से, कभी चर्चा से—आपकी जो कुण्ठा थी, जहाँ आप रुक गये थे, ठिठक गये थे, वहाँ से आपको आगे बढ़ा देता है जीवन उस संयोग के परिणामस्वरूप। आपके हाथ में दीपक था, बत्ती थी, उसमें तेल भी भरा था, (उन्मुख चेतना वाला देह था ही) कमी थी बस प्रज्वलित दीपक की लौ के स्पर्श की!—'नन्हीं सी वह लौ (शिखा)—छुई न छुई'—जरा-सा छूते ही वह केवल बत्ती भी "शिखा" हो जाती है। इसी तरह गुरुपद में स्थित व्यक्ति से चेतना का स्पर्श होते ही रुकावटें दूर हो जाती हैं, यह चेतना की अवस्थाओं का मिलन है। (The learning & the understanding is taking place between the two.) उसी पल भर के मिलन में इन दो चेतनाओं के बीच यह सीखने-समझ लेने की घटना घटित होती है।

ऐसा यह गुरु-शिष्य का मिलन होता ही है। जो भी साधक बना होगा, उसके जीवन में यह अनुभव होगा। यह हमारे मन के प्रयत्नों के फलस्वरूप नहीं होता। हम जिस "सम्बन्ध" की रचना-योजना (manoeuvre, manipulate) करते हैं, वह तो आधार या आश्रय खोजने

वाली बात है। वह मिलने पर भी परितृप्ति नहीं होती, और जीवन में आमूलाग्र-परिवर्तन की पवित्र घटना भी घटित नहीं होती। हम अपने मन से सम्बन्ध बाँध लेते हैं कि "ये मेरे गुरु हैं, ये मेरे गुरुभाई हैं, यह हमारा आश्रम है",—इस तरह 'अहं' और उसके प्रसार को एक उदात्त (Sublimated) स्तर पर हम ले गये—'घर'—'परिवार' की जगह "आश्रम", "गुरु-गुरुभाई" आये, पर रहे सब "मेरे" ही। वहाँ चिपक जाना; "उनके करने से सब कुछ होगा, मैं तो कुछ नहीं कर सकता"—दीन-हीन भावना—कितने ही भ्रान्तियों के जाल 'गुरु-शिष्य'—सम्बन्ध के नाम पर खड़े हुए हैं। किन्तु उसकी आलोचना करने—मीमांसा करने हम यहाँ नहीं बैठे हैं। परस्पर शोषण करते हुए गुरु और शिष्य दोनों चलते हैं। परिवारों में परस्पर शोषण होता है, सस्था-संगठनों में होता है, और आश्रमों में भी होता है। यह अनिवार्य नहीं है; किन्तु होते हैं, क्योंकि समय-सापेक्ष, देह-सापेक्ष सम्बन्धों की अपेक्षा रहती है। और मैं कह रही हूँ कि गुरु और शिष्य का कोई सम्बन्ध नहीं होता, केवल मिलन होता है; क्योंकि वे चेतना की दो अवस्थायें हैं। उस मिलन में युग-युगान्तर की जो घटना होनी है वह घटित हो जाती है। उस पर 'सम्बन्ध' की कल्पना थोपी नहीं जा सकती (To impose a relationship & a sense of belonging, there is creating anothor kind of bondage.) वह तो नया बन्धन पैदा करना हुआ। फिर उस व्यक्ति के वाक्यों को पकड़ना, शब्दप्रामाण्य खड़ा करना, उनके शरीर की अनुकूलता-प्रतिकूलता एवं रहन-सहन की रीति को लेकर उन सब के प्रामाण्य खड़े करना—कैसी-कैसी हास्यास्पद बातें अध्यात्म के नाम पर की जाती हैं। व्यक्ति-प्रामाण्य, ग्रन्थ-प्रामाण्य से फिर सम्प्रदाय बनते हैं। यही सिलसिला चलता है। मुक्ति से इतना भय है कि बन्धनों के आकार-प्रकार बदलने में ही तृप्ति का अनुभव होता है। इसलिए, समझ रखना चाहिए कि गुरु और शिष्य का सम्बन्ध नहीं, वह मिलन एक घटना है। ग्रहण करने वाला तैयार हो, पात्र तैयार हो, तो उसमें जल या दूध पड़े तो वह पात्र भर ही जाने वाला है। सरिता बह रही है, बीच में कोई गड्ढा आ गया तो क्या उस गड्ढे को प्रार्थना करनी पड़ती है कि "हे सरिता मैय्या मुझे भर दे!" वह उसे भर कर ही आगे चलेगी।

There seems to be a low of love & Compassion at the core of Universe. The content of Supreme Intelligence seems to be love & compassion. वैश्विक प्रज्ञा का उपादान कुछ है तो प्रेम और करुणा ही है।

आपके चित्त में आकांक्षा व तड़पन पैदा हुई बन्धनों से मुक्त होने के लिए, तो आपकी वह तड़पन पूरी हस्ती को घेर लेती है, आप पावन जिज्ञासा की शिखा बन जाते हैं (You, your whole being, become a flame of Sacred Enquiery. It is not an intellectual commitment or aspiration. You get incharged by that secred enquiery) यह केवल बौद्धिक समर्पण या चाह नहीं है; आप उस पावन जिज्ञासा की विद्युत् से भरे होते हैं। अतः वैश्विक चेतना को आकर्षित करने वाला बिन्दु बन जाते हैं। जैसे ग्रीष्म की तपी धरती वर्षा ऋतु में मेघों को आकर्षित करती है, और वर्षा होती है। इसी प्रकार भीतर जिज्ञासा जागी हो तो वैश्विक चेतना को बुलाना नहीं पड़ता। आपका शिष्य बन जाना ही "गुरु" को निमन्त्रण है। उस व्यक्ति की उपस्थिति-मात्र से वह "मिलन" घटित होता है; वहाँ न "कुछ दिया गया" न "कुछ लिया गया" न देने वाले को श्रम है न लेने वाले को भार है।

'प्रेम' क्या संकल्पपूर्वक दिया जाता है ? करुणा क्या इश्तहार बाँट कर घोषणा करके या डौंडी पिटवा कर की जाती है ? प्रेम और करुणा का संक्रान्त होना, और मुक्तों के जीवन एवं वाणी में से मुक्ति संक्रान्त होना जीवन का 'गौप्य' (दिखाया न जा सकने वाला रहस्य) है। वह बुद्धि के लिए सर्वथा अगम्य नहीं, पर साथ ही—बुद्धि द्वारा सब प्रकार से गम्य भी नहीं। यह गम्य-अगम्य की लीला है। वह 'गुरु' का 'मिलन' कब होगा ? यह कहा नहीं जा सकता, विद्यालय की समयसारणी (timetable) जैसा उसका खाका नहीं बनाया जा सकता। लेकिन यदि शिष्यत्व जागृत व धारण होता है तो गुरुपद में स्थित व्यक्ति का सम्पर्क होना अटल है, अवश्यम्भावी है।

जीवनसत्ता या वैश्विक चेतना सर्वव्यापिनी होने के कारण जिज्ञासु कभी अकेला नहीं है, उसे भयभीत होने की आवश्यकता नहीं है। बुद्धि

के व शब्द के, ज्ञात के किनारे छूट जाने पर "मेरा क्या होगा ?"—यह सोचने की उसे आवश्यकता नहीं है। प्रज्ञा सर्वदा सर्वत्र बैठी ही है। व्यक्ति के रूप में नहीं, सत्ता के रूप में, चेतना के रूप में। पर हम चाहते हैं कि वह व्यक्ति के रूप में मिले। यह हमारा आग्रह है। इसलिये हमें मौन से भय लगता है; क्योंकि वहाँ "गैरन्टी" नहीं है 'व्यक्ति' की। और सत्ता का आधार लेने जितनी संवेदनशीलता हम में नहीं है। बच्चों को शब्द सिखाते समय साथ में उस के अर्थ का चित्र दिखाना पड़ता है गाय-घोड़ा-तोता आदि; तब वह सीखता है। उसी प्रकार मनुष्यजाति अभी तक इतनी परिपक्व नहीं हुई कि परोक्ष (इन्द्रियों से पकड़ी न जा सकने वाली वस्तु) का संवेदन ले सके; उसे अभी 'चित्र' (प्रत्यक्ष दृश्य अवलम्ब) चाहिये। इसलिये शब्दात्मक चित्र उपस्थित करने वाले मन-बुद्धि भी शान्त हो जायें, विसर्जित हो जायें, तब क्या होगा जीवन में ? ऐसा अज्ञात का भय है। यदि यह समझ में आये कि प्रज्ञा, चेतना सब कुछ में व्याप्त है, सर्वत्र सर्वदा हाजरा-हुजूर (उपस्थित ही) है—तो भय निर्मूल हो जाता है। और परस्पर सम्बन्धितता का जो मधुर रहस्य है, जो प्रेम और करुणा का मूल अजस्र स्रोत है, उसका भान हो जाय तो फिर मनुष्य अपने संस्कारों या प्रकृति के अनुसार 'शिष्यत्व' धारण करके साधना (अर्थात्—स्वशिक्षण) के पथ पर निकल पड़ता है। जहाँ उसे कठिनाई पड़े वहाँ विश्वचेतना उसकी मदद में दौड़ कर आती है।

श्रीमद्भगवद्गोता के बारहवें अध्याय की टीका लिखते हुए योगियों के, ज्ञानियों के चक्रवर्ती ज्ञानेश्वर कहते है—

"अर्जुन ! हमें भक्तों का व्यसन। भक्त हमारे निज-ध्यान।
वे कान्ता मैं वल्लभ जान ! निश्चय तू ॥"

यह प्रेम व करुणा की भाषा है। वासुदेव कहते हैं—"अर्जुन ! मुझे तो भक्तों का व्यसन है। भला कौन अपने व्यक्तित्व और अहं के गढ़ में से बाहर निकल कर मेरी तरफ़ दौड़ता है ? यह देखता हुआ मैं बैठा हूँ।"

वासुदेव को केवल वसुदेव-पुत्र न समझियेगा !

"वासनाद् वासुदेवस्य वासितं भुवनत्रयम्।
सर्वभूतनिवासोऽसि, वासुदेव ! नमोऽस्तु ते !"

उन वासुदेव का यहाँ अनुसन्धान रखें !

अर्थात् वैश्विक चेतना में भी उत्सुकता है कि जो व्यक्तिता–अहन्ता का घेरा छोड़कर मेरे प्रवाह में आ जाय, उसका स्वागत करूँ। (शब्दों का भाव लीजिये, स्थूलता में न खींचियेगा। नहीं तो आप कहेंगे कि जहाँ मन ही नहीं वहाँ "स्वागत" कैसा ?) कहते हैं—"भक्त तो मेरा अपना ध्यान (चिन्तन का विषय, या स्वरूप) हैं, मेरा नित्य ध्यान रहता है भक्तों की तरफ़। वे मेरी कान्ता हैं—मुझे कान्ति देते हैं भक्त हो तो! (परमात्मा का कोई रूप नहीं, नाम नहीं, गुण-कर्म नहीं, और भक्त उन्हें वह सब देते हैं, उनके रूप का वर्णन करते हैं, उनके नाम का कीर्तन करते हैं; उनके गुण व लीलाओं का गान करते हैं। तरह-तरह से वे अपने भगवान् को सजाते हैं) इसीलिये मैं उनका वल्लभ हूँ, प्रेमास्पद हूँ, प्रेमी हूँ।" नाम-रूप-गायन के लिये व्यक्तिचेतना का अवगुण्ठन लिये हुए वैश्विक चेतना ही विद्यमान है, वह जब अवगुण्ठन छोड़ती है तब सर्वव्यापिनी चेतना ही हो रहती है। व्यक्तिचेतना वैश्विकचेतना में घुल जाती है। जैसे नमक की या मिश्री की डली पानी में घुल जाय, या बिन्दु सिन्धु में समा जाय। चाहे भक्ति में प्रेमरस में घुल जाय या ज्ञान के अग्नि में पिघल जाय, गल जाय! किसी भी प्रकार 'अहं' का विसर्जित होना ही तो भक्ति है! "अस्मद्-युष्मद्-इदम्" (मैं-तुम-यह) की प्रतीति कराने वाली इस "अहं-ग्रन्थि" के घुल जाने का ही तो भय है! एक तरफ़ मुक्ति की आकांक्षा है, दूसरी ओर 'अहं' मिटने का भय है—इस आन्तर-विरोध से प्रभु हमें मुक्त करें यही प्रार्थना है। ●

- अहं के केन्द्र से जिस परिधि का निर्माण होता है, वह मनुष्य को वैश्विक चेतना से अलग कर देती है। अलंकार अधोगति में ले जाता है, क्योंकि वह हमें शरीर से बाँधता है, मन से बाँधता है।
- मानसिक क्रिया ही अहङ्कार का आहार है। जब यह समझ में आयेगा कि समस्त मानसिक क्रियाओं की शान्ति में ही ध्यान के द्वार खुलते हैं, तब अहं के विलोपन का भी मार्ग प्रशस्त हो जायेगा।
- मन और बुद्धि के द्वारा जो भी क्रिया होगी, उससे अहङ्कार को ही पोषण मिलेगा। क्रियाओं को शान्त होने देंगे तो अहङ्कार पिघलना शुरू होगा।

प्रश्नोत्तरी

दि० १९-२-८९ अपराह्न

कल मेरे पास आये प्रश्नों में से कुछ के उत्तर नहीं दिये गये थे; उनमें कुछ तो समयाभाव के कारण, और कुछ प्रश्नों का स्वरूप प्रायः व्यक्तिगत होने के कारण। जैसे कि किसी ने पूछा था "मैं कौन सा साधना-मार्ग चुनूँ ?" "ॐकार जप का मौन से सम्बन्ध है या नहीं ? क्या मैं ॐ जप करती रहूँ ?" "विपश्यना को साधना और ध्यान का सम्बन्ध हो सकता है या नहीं ?"—इत्यादि।

जब मैं कहती हूँ कि कोई भी व्यक्ति-प्रामाण्य आप स्वीकार न करें, तो मैं भला इन प्रश्नों का उत्तर कैसे दूँ कि "आप यह ही करो ! या वह मत करो !" क्या करने से क्या होता है—यह बतलाना मेरा धर्म है। उसे सुनने-समझने के बाद सोचना चाहिये, फिर अपने लिये निर्णय करना चाहिये। 'देखें सबहि कुछ आँख से'—लेकिन सब देखने के बाद उसमें अपने करने न करने का निर्णय लेना और उस निर्णय पर चलना तो मनुष्य को सीखना पड़ता है। अतः आपके लिये कोई निर्णयात्मक उत्तर देकर मैं आपकी प्रज्ञा का अपमान नहीं करना चाहती।

आज पहला प्रश्न हम यह लेंगे कि श्रद्धा और पुरुषार्थ का, निरहं-कारिता-अनभिक्रम और संयोजन-नियोजन (Planning) का मेल कैसे बैठाया जा सकता है ?

"सत्ये प्रतिष्ठिता धारणा श्रद्धा"—सत्य को शब्द की मदद से बुद्धि के द्वारा जान लेने के बाद उसमें धारणा का स्थिर हो जाना—इसका नाम श्रद्धा है। परमात्मा सर्वत्र हैं, सर्वदा हैं, सर्व में, सर्वरूप हैं, एक "पश्यन्ती चेतना" (perceptive intelligence) के रूप में सब में परमात्मा हैं—यहाँ तक तो शब्दों एवं बुद्धि के माध्यम से जाना जा सकता है। लेकिन इतना जानने के बाद, धारणा का वहाँ स्थिर होना अपेक्षित है कि वह वैश्विक चेतना, जगन्माता सत्तास्वरूपिणी—या प्रभु-परमात्मा-जगत्पिता जो कुछ आपको कहना हो—वे मेरे भीतर मेरे साथ

प्रतिपल सब जगह है ही हैं—ऐसा अर्थघटन यदि आप न करें, बुद्धि से जान लिया कि परमात्मा सब जगह है फिर भी डरते रहे, छिपते-छिपाते रहे, घबराते रहे—तो इससे यही सूचित होता है कि धारणा सत्य में दृढ़ नहीं है।

श्रद्धा का उपयोग है स्थिरमति स्थितप्रज्ञ होने में; और पुरुषार्थ का उपयोग है सम्यक्-कृति होने में। केवल जान लेने से और उस ज्ञान में धारणा स्थिर हो जाने से भी प्रत्यक्ष जीवन में काम पूरा नहीं हो जाता। वह प्रारम्भ है, अधिष्ठान है, कायिक-वाचिक-मानसिक सभी क्रिया-कलापों की, समस्त व्यवहार की नींव है वह। लेकिन नींव डाल दी, उस पर मकान नहीं बनाया, तो उस नींव का कोई फलित अर्थ नहीं रहता। इसलिए श्रद्धा की नींव डालने के बाद पुरुषार्थ का भवन बनाना होता है; जो परिस्थिति-प्राप्त कर्म है उन्हें उस सत्य-ज्ञान के आलोक में अब ध्यानसहित करते जाना, सब जिम्मेवारियाँ अलिप्त भाव से एवं पूरी कुशलता से निभाते जाना होता है। वही सम्यक् कर्म कहलायेगा।

श्रद्धा और पुरुषार्थ में कोई द्विधा-द्वन्द्व या विपरीतता (dicotomy) नहीं है। हाँ यदि श्रद्धा का अर्थ यह कर दिया कि मैं प्रभु के सहारे हूँ, मुझे कुछ भी करना नहीं है तो वह विपरीतज्ञान है। क्योंकि जो प्रभु सर्वत्र हैं उन्होंने ही तो हमें यह शरीर दिया है। यह कितनी ही शक्तियों का भण्डार है, कितनी सम्पन्न इन्द्रियों से मढ़ा हुआ है। केवल स्थूल इन्द्रियाँ ही नहीं, मन-बुद्धि नाम का सूक्ष्म एवं अधिक व्यापी इन्द्रिय भी तो दिया है। इन्द्रियों में संस्कारों की शक्ति दी है, शरीर में सप्त-धातुओं (अस्थि-मज्जा-मांस-रक्त-रस-शुक्र-वीर्य) की शक्ति दी है। अतः हम से अपेक्षा है कि हम इन सब शक्तियों का सम्यक् विनियोग करना सीखें। इसके अलावा, मनुष्य समाज में रहता है, पशुओं की तरह झुण्ड बना कर तो नहीं रहता। (हालांकि हम अब समाज के बदले झुण्ड की ओर जा रहे हैं) इसलिए मनुष्य पर सुव्यवस्थितता की एक जिम्मेवारी आ जाती है।

Man is not only a rational animal, but a social & responsible being. He has the capacity to respond situations & challanges.

(मनुष्य केवल चिन्तनशील तर्कशील प्राणी नहीं, बल्कि सामाजिक एवं जिम्मेवार प्राणी है। मनुष्य में शक्ति है सामने आयी परिस्थिति और चुनौतियों को प्रतिसाद देने की)। यह जिम्मेवारी पशुओं—पक्षियों पर नहीं है। उन्हें तो जो निसर्ग से मिला है उसी को ज्यों का त्यों वे व्यक्त करते हैं, दोहराते हैं। पर मनुष्य में क्षमता है समाज बनाने की, जिम्मेवारियाँ वहन करने की।

पुरुषार्थ का क्षेत्र है व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन, परिवार और समाज तथा आसपास के जीवन की जिम्मेदारियाँ निभाना। शरीर व इन्द्रियों का विकास करते हुए, बुद्धि को परिमार्जित प्रशिक्षित करते हुए पुरुषार्थ करना अपना धर्म बन जाता है। इस पुरुषार्थ का फल जब आशा से विपरीत आता है तब श्रद्धा दो प्रकार से काम देती है। एक—जैसी मेरी जीवनधारा इस समाज और सृष्टि से जुड़ी है, वैसी असंख्य-अनन्त जीवनधारायें इस सृष्टि से जुड़ी हैं, और सभी परस्पर सम्बद्ध हैं। इसलिये अवश्य कोई कारण हुआ होगा (जिसे भक्तों की भाषा में "दैवञ्चात्र पञ्चमम्" कहा गया है) वैश्विक स्तर पर जो कारण-शृंखला है, उसमें कहीं अपना कर्म संवादी नहीं हुआ। इसलिये अपेक्षित फल नहीं आया होगा। भक्तों की भाषा में 'ईश्वरेच्छा बलीयसी", या तो समय प्रतिकूल है। अनेक प्रकार से असफलता को समझ लिया जाता है; लेकिन श्रद्धा के रहते चित्त में यह नहीं आता कि "मेरे प्रति परमात्मा अन्याय कर रहे हैं।" वेदान्त की भाषा में इसे वैषम्य-नैर्घृण्य-न्याय कहा जाता है, कि परमात्मा को कोई अधिक प्रिय है और किसी के प्रति उपेक्षाभाव है—श्रद्धायुत चित्त में यह भाव नहीं उठता, जीवन के प्रति हताशा-निराशा-कटुता नहीं आती। श्रद्धा न हो तो चित्त विषाक्त हो जाता है और जीने में से रस-आनन्द नष्ट हो जाते हैं। श्रद्धा जीवन का रस बनाये रखती है।

इसका अर्थ यह नहीं कि समाज में अन्याय हो, अधर्म हो, अत्याचार हो तो वह व्यक्ति उसका प्रतिकार नहीं करेगा, उसके खिलाफ़ जूझेगा नहीं, अन्याय को सहन करता जायेगा, अत्याचार का शिकार होगा। वह जूझता रहेगा लेकिन कार्य के परिणाम पर से अपने कर्म व हेतु की गुणवत्ता का निर्णय नहीं करेगा। जैसे गाँधीजी जूझते रहे;

सफलता की अपेक्षा विफलता ही अधिक उनके हिस्से में आयी। लोग कहते भी रहे कि "बापू ! आप सत्य-अहिंसा की बात करते हैं, लेकिन यश तो आता नहीं (सफलता मिलती नहीं) तो आप क्यों इसी पर चिपके हुए हैं ?" तब बापू कहते "मैं और कुछ कर ही नहीं सकता। मेरी समझ में जो सत्य आया है वही मेरे कर्म और वाणी में रहेगा, और जीवन की एकता का मुझे दर्शन हुआ है, इसलिये मैं किसी से वैर नहीं रख सकता, किसी से द्वेष नहीं कर सकता।" कभी-कभी तो झुंझला कर कह देते "झख मारता हूँ, सत्य-अहिंसा के सिवा मैं कुछ नहीं कर सकता।"

गाँधीजी तो बड़े भक्त थे, जयप्रकाशजी को तो सबने 'भक्त' रूप से नहीं जाना। वे समाजवादी थे, मार्क्सवादी थे। पर अन्तस्तल में वे कैसे भागवत व्यक्ति थे, उनकी चेतना कैसी श्रद्धामयी थी—यह सब नहीं जानते। वह तो तब पता चला जब उनकी कविता सामने आयी—

"मैं तो विफलताओं का धनी हूँ !
सफलता जब चरण चूमने आयी, तब मैंने ठुकरा दिया !"

....वे दलितों-श्रमिकों के हित के लिए हमेशा काम करते रहे, जूझते रहे। सफलता से कहीं अधिक विफलता उन्हें मिली, लेकिन न मनुष्यमात्र के प्रति उनका भाव बदला, न जीवन में कटुता आई। श्रद्धा से चित्त क्षुद्र व पामर नहीं बनता, परम उदात्त बनता है। चण्डीगढ़ के जेल में जे० पी० के साथ क्या-क्या नहीं बीता। प्राणघातक यातनायें झेलनी पड़ीं, लेकिन जब पटना में अपने घर में पहुँचे, अतिशय रुग्ण दशा में रहे; उस समय जब तब की प्रधानमन्त्री इन्दिराजी मिलने गयीं—तब कहा—"वह तो हमारे मित्र जवाहरलालजी की बेटी है, मेरी ही बेटी हुई न !" "इन्दु ! तू बहुत शक्तिशाली है; अपनी भूलें सुधार लेगी तो तेरा भविष्य उज्ज्वल हो सकता है।"—साथ वाले लोग नाराज़ हो गये कि जिस महिला ने आपको इतना अधिक कष्ट पहुँचाया, पटना में आप पर लाठी चलवायी, कलकत्ता में मारने की कोशिश की, चण्डीगढ़ में घोर यातनायें दिलायीं, न जाने क्या-क्या किया ? उसे आशीर्वाद देते हैं ? स्नेह से मुस्कुराते हुए उसे कहते हैं—"इन्दु ! भूलें सुधार लें, तेरा भविष्य उज्ज्वल है !" जे० पी० के साथी चण्डीगढ़ जेल में उनके

साथ हुए अत्याचार को ही उनकी मृत्यु का कारण मानते थे, जानते भी थे। वे तिलमिला उठे कि उस महिला को आप आशीर्वाद देते हैं ? तब जे० पी० ने कहा कि "मेरे साथ तो जो होना था, हो चुका। अब जाते-जाते क्या मैं इन्दु के जीवन पर कलङ्क का धब्बा लगाऊँगा ?"···· वे कोई साधु-महात्मा या मठ-मन्दिर में बैठे व्यक्ति नहीं थे। किन्तु चित्त कैसा उदार था। कटुता का लेश-स्पर्श भी नहीं, यह श्रद्धा है।

श्रद्धा चित्त में से पामरता-क्षुद्रता को धो डालती है, चित्त को परम की ओर आकर्षित करती है। मनुष्य के नाते जितनी शक्तियाँ मिली हैं, उनका उत्तमोत्तम उपयोग करते हुए मनुष्य की जिम्मेवारियाँ निभाने का बल देती है। श्रद्धा और पुरुषार्थ का ऐसा मेल है।

प्रश्न का उत्तरार्ध है निरहङ्कारिता और आयोजन। 'आयोजन' शब्द का मैं अर्थ समझो हूँ—योजना बनाना और व्यवस्था करना (planning & organisation) इससे निरहङ्कारिता का कहाँ विरोध आता है ? जीवन का आयोजन तो करना ही पड़ता है। मनुष्य देह में जीने के लिए बहुत हुए तो १०० वर्ष मिले हैं। इनमें से दैनिक विश्राम-निद्रा के ८ घण्टे निकाल दें तो तृतीयांश बीत गया। बचपन के १० वर्ष निकाल दें और वृद्धावस्था के १० वर्ष निकाल दें तो, ५०–५५ वर्ष निकल ही गये। हाथ में रहे कितने ? इसलिए १५–१६ वर्ष की आयु होने पर बैठ कर सोच लेना चाहिये कि मुझे जो यह शरीर-मन-बुद्धि एवं इनमें भरी शक्तियाँ मिली हैं इनका कहाँ-कैसा विनियोग इन ४०–५० वर्षों के जीवन-अवसर में करना है ! मेरे जो गुण-दोष हैं, मर्यादायें हैं, सम्भावनायें हैं, इनका जीवन में क्या-कैसा स्थान रहेगा ? मेरे जीवन को दिशा क्या होगी ? विद्यार्जन के लिये कितने वर्ष लगाने हैं ? गृहस्थाश्रम में जाना है या नहीं ? जीवन की आवश्यकताओं एवं अग्रिमताओं का एक क्रम बना लेना पड़ता है। नहीं तो हाथ में आये ४०–५० वर्ष भी यों ही बीत जायेंगे इधर-उधर भटकते या अव्यवस्था व प्रमाद में; जीने का अवसर निकल, जायेगा और जीवन की सन्ध्या में अहसास होगा, पछतावा होगा, कि हाथ खाली रह गये।····

अधिकतर लोग तो एक दिन की भी योजना नहीं बनाते; सुबह उठ कर भी सोच नहीं लेते कि आज दिनभर में मुझे क्या-क्या करना है।

अस्तव्यस्त जीवनचर्या है; उसमें कोई अग्रिमतायें नहीं, कोई व्यवस्था नहीं। व्यवस्था के बिना सौन्दर्य नहीं रहता। (Disorderliness on the physical level, on the mental and intellectual level, is something very ugly.)

कब उठे, कब खाया, कब नहाये, कमरे का-घर का सामान कैसा पड़ा है—किसी में कोई व्यवस्था नहीं। जैसा-तैसा सब चलता है। एक दिन की भी जीवनचर्या की व्यवस्था नहीं तो सप्ताह, मास, वर्ष का तो पूछना ही क्या ? दिशाहीन-लक्ष्यहीन जीवन चलता जाता है। दिन के पीछे रातों को और रातों के पीछे दिन को घसीटते चले जाते हैं। यह जीना नहीं है। इन्द्रिय के आवेगों के अनुसार शरीर को खिलाना-पिलाना—बस इसी का अर्थ जीना नहीं है, उसका भी महत्त्व अवश्य है आहार-निद्रा-भय-मैथुन प्राणी-मात्र में समान हैं, पर मानवीय जीवन की विशेषता है इनके सम्यक् आयोजन में। वह मनुष्य ही कर सकता है।

प्रश्नकर्त्ता का कहना है कि यदि हमारा सोचा हुआ आयोजन ठीक न निकला, आशा के अनुरूप सफल न हुआ तो ठेस लगती है, आघात पहुँचता है, अहङ्कार घायल होता है। यहाँ आयोजन का निरहंकारिता से सम्बन्ध आता है। जीने का जो अवसर मिला, जो घड़ी-आधी घड़ी मिली, वह घड़ी, वह क्षण ही जीवन जीने का अवसर है। जीवन की शाश्वती क्षण के अवगुण्ठन में सामने आती है तो वही चिरन्तनता है। इसलिये वर्तमान में जीना बहुत बड़ा दायित्व है। यदि आपने भौतिक जीवन की व्यवस्था कर ली—कि कहाँ रहना है, कौन-सा नौकरी-धन्धा-कार्य करना है; कुटुम्ब बसाना है या नहीं ? कैसी जीवनशैली रखनी है ? शरीर को किस ऋतु में कौन-सा आहार अनुकूल है ? ऐसे एक बार सब व्यवस्था हो जाय तो बड़े सरल-सुचारु रूप से जीवन चलता है। फिर उसके बारे में सोचना नहीं पड़ता; व्यर्थ में समय और शक्ति खर्च नहीं होते लेकिन यह आयोजन या व्यवस्था करने के बाद भी यह भ्रम हमारे चित्त में न रहे कि "हम जीवन के स्वामी (मालिक) हैं, और जैसा हमने सोच कर नक्शा बना लिया है ठीक वैसा ही क्रम जीवन में रहेगा, जो कल्पना की है—सब कार्यक्रम-घटना-परिस्थिति आदि—वैसे ही रहेंगे, और ऐसा होना ही चाहिये।" यह आग्रह चित्त

में न रहे। क्योंकि सृष्टि में हम अकेले नहीं हैं और आसपास सब पर तथा निसर्ग पर भी हमारी निजी हुकूमत नहीं है।

जो सामने आया उसके साथ समन्वय-सामञ्जस्य साध कर रहना है। आयोजन एवं व्यवस्था इसलिये कर ली जाती है कि जीवन में अराजकता-अव्यवस्था और इनके कारण आने वाले तनाव-दबाव न रहें। लेकिन, आयोजन करने के बाद जब उस पर अमल करने लगते हैं, तब आप अकेले नहीं हैं। परिवार में हों, तो परिवार के अन्य सदस्यों को—पति या पत्नी को, माता-पिता-भाई-बहन-बच्चों को—आपका आयोजन पसन्द नहीं आया तो आप दुःख नहीं मानेंगे, बार-बार उस बात को लेकर बड़बड़ायेंगे नहीं कि "मैं तो ऐसी व्यवस्था करना चाहता था पर दूसरों के कारण नहीं बन पाई।" जहाँ ५–१० आदमी साथ मिल कर रहते हैं तो कभी एक की बात चलेगी कभी दूसरे की।

आयोजन में और एक बात ख्याल में रखनी होती है कि मूल सिद्धान्त एवं मूल्यों की बात पर शिला की तरह अडिग रहना, वहाँ समझौता नहीं, लेकिन अमल की तफसील के बारे में आग्रह न हो, वहाँ सब को उनकी अनुकूलता व स्वाधीनता बरतने का अवकाश रहे। वहाँ कट्टरता न हो, विरोध-कटुता-द्वेष न आवे। यह देखना चाहिए। ग्रहणकारिता का परिचय अनाग्रहिता में है। (Stand firm like a rock on fundamentals and give-in in details.) "मैं पति हूँ, मैं गृहिणी हूँ, मैं संस्था-संगठन की प्रमुख हूँ"—इस भावना से अपनी बात दूसरों पर लादने की वृत्ति न हो। परिवार आदि में यदि दूसरे लोग ग़लत काम करते हों—हमें दिखता हो कि उस कार्य में असत्य-अधर्म है, अनीति है, दूसरों का अहित हो सकता है—तब तो हम अवश्य दो-चार बार दृढ़ता से उसका विरोध करेंगे, फिर भी अन्य सदस्य न मानते हों तो हमारा कर्तव्य होगा उस असत्य-अधर्म में स्वयं शामिल न होकर असहयोग करना; हमारा अधिकार है यह कहने का कि जो ग़लत लगता है, अधर्ममूलक एवं अहितकर दिखता है उसमें हम ज़रा-सा भी सहयोग नहीं करेंगे। भले ही पिता-पुत्र-पत्नी-पति या अन्य विशेष महत्त्वशाली सदस्य उस ग़लत काम के हिमायती हों, पर

हम अपने मूल्य नहीं छोड़ेंगे। अपने विचारों का निवेदन होगा, सुझाव होगा, आग्रह नहीं, हठ नहीं; वैसे ही दूसरों के ग़लत कार्यों में शामिल नहीं होना है। श्रद्धा और निरहङ्कारिता यह असहयोग की शक्ति देती है। उद्दण्ड बन कर नहीं, अपने को श्रेष्ठ दिखाते हुए नहीं, अहंकार-अभिमान की भाषा में नहीं; विनम्रता से, शालीन रीति से, स्पष्ट-दृढ़ रूप में कह सकते हैं "कि इसमें मेरा सहयोग नहीं होगा। जो भी परिणाम हो।"

निरहंकारिता के ये दोनों रूप हैं कि आप किसी पर अपना विचार आग्रह-पूर्वक लादेंगे नहीं, और स्वयं दूसरों के गलत कार्य में शामिल नहीं होंगे, किसी के दुराग्रह का शिकार नहीं बनेंगे। आप स्थिर रहेंगे।

निरहङ्कारिता का आशय समझने के लिये तो गीता के स्थितप्रज्ञ-लक्षण और भक्त-लक्षणों को साथ-साथ रख कर देखें, उनका भलीभाँति अध्ययन करें। तब शङ्का निर्मूल हो जायेगी। निरहङ्कारिता और आयोजन में कोई विरोध नहीं है, श्रद्धा और पुरुषार्थ में भी कोई विरोध नहीं है।

किसी ने पूछा है कि—"द्रष्टा हटता नहीं, और शून्य की जागृति नहीं होती। 'मैं देख रहा हूँ'—यह बात चित्त से धुल नहीं जाती है।" यह हजारों वर्षों से चित्त में जमी हुई वृत्ति है, इसलिए नहीं हटती। पहले तो यह समझने में ही देर लगती है कि "अहं" की वस्तुतः कोई सत्ता नहीं, केवल कल्पनात्मक-भावनात्मक अस्तित्व है, ख्याली हस्ती है। यह बात समझ में आ जाय कि जो अहङ्कार मूल में कुछ है ही नहीं; वही अब तक 'कर्त्ता'—'भोक्ता' बन कर बैठा था और अब उसने 'द्रष्टा' भाव में अपना डेरा डाल दिया है, पाँव जमा लिये हैं। यह अहङ्कार का ऐसा निरापद व सात्त्विक आश्रयस्थान है कि उसमें किसी प्रकार का दोष दिखाई नहीं देता। द्रष्टाभाव-साक्षित्व या साक्षीभाव में सत्त्व-गुण का प्रकर्ष है; रजोगुण-तमोगुण को लाँघ चुका है, अतः अहङ्कार को लगता है कि यहाँ कोई खतरा नहीं। उसे रहने को कोई स्थान चाहिए, सो तमस्-रजस् से हट कर सत्त्व को पकड़ बैठा है। इस तथ्य को समझ लिया हो तो "द्रष्टा" को हटाने सरकाने की कोशिश नहीं करनी चाहिए। जब 'अहं' में कोई असलियत है ही नहीं, उसका

वास्तविक अस्तित्व ही नहीं, तो भले पड़ा रहे सत्त्वाश्रित होकर, उसे हटाने की चिन्ता और आयास का तनाव क्यों पैदा करेंगे ?

"अहं" भ्रान्तिमात्र है इतना ध्यान में आ गया हो तो यह आयास आप नहीं करेंगे कि क्योंकि जितना उसे हटाने का प्रयास किया जायेगा उतना ही वह प्रतिकार करेगा, बहाना बना-बना कर, रूप बदल-बदल कर वह और दृढ़ता से पाँव जमाना चाहेगा। उसे हटाने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए इसका और भी एक कारण है कि—प्रयत्न कौन करेगा ? प्रयत्न करना भी तो उस 'अहं' की ही क्रिया होगी ? 'कर्ता' वही बनता है न ! उस अहं में स्वयं को जानने की संवेदना भी है; वह जानता है कि इस भाव (द्रष्टा या साक्षीरूप) में मैं पड़ा हूँ। कर्ता-भोक्ता नहीं तो कम से कम द्रष्टा रूप मे बने रहना उसे प्रिय है। उसे हटाने के लिए क्या आप जबर्दस्ती करेंगे ? उसी को आत्मविलोपन के लिए विवश-बाध्य करेंगे ? क्योंकि बुद्धि कहती है कि वह छूटना चाहिए। तो भीतर संघर्ष होगा, छिन्न-व्यक्तित्व हो जायेगा। क्योंकि एक अंश तो अब तक की स्थिति में चिपका रहेगा और दूसरा अंश उस पर प्रहार करेगा। इसलिए जितना उपाय करें उतना बढ़ने के कारण वह मिटने वाला नहीं। तो फिर करें क्या ?

हर बार "मैं द्रष्टा हूँ" इस रूप में अपनी हस्ती जताने वाले, जाहिर करने वाले अहङ्कार को भी देखें, जैसे अन्य सब विचार-विकार-दृश्य आदि को देखते हैं। करें नहीं कुछ; उसे हाथ भी न लगायें; बस देखते रहें। यह देखने का कर्म और समझ का बल (The strength force of understanding & the act of observation)—ये दोनों आप के जीवन में दाखिल हो जायें। वेदना होगी कि "अरे यह अहङ्कार तो गया नहीं, और भी सूक्ष्म और पक्का होकर बैठ गया, द्रष्टापन को भी अहं ने अपना बना लिया; इसी में गौरव का रास्ता निकाल लिया।" यह मर्यादा ध्यान में आयेगी, व्यथा होगी, इसे भी जी लेना है। "अहं-कार या द्रष्टा हिलता नहीं, हटता नहीं—" इस वेदना को साथ लिये जीना है। (Be with the fact & be with the sorrow caused by the awareness of the fact.)

यहाँ आती है हमारी कठिनाई या मुसीबत। क्योंकि हम पले हैं इसी शिक्षण में कि ज्ञान प्राप्त करो, फिर उस ज्ञान पर अमल करो

(Knowledge & its implementation) ऐसा एक विभाजन हमारे भीतर पड़ा है। जो समझ आयी, वह समझ ही स्वयं काम करेगी (The truth behind the understanding will operate, will function) इसका हमें भान नहीं है। और घटना के साथ हम स्थिर रहें तो उसी में से समस्या का हल निकल आयेगा—इतनी शक्ति उस देखने के कर्म में एवं सभानता में है, इसका भरोसा हमें नहीं है—इसीलिये प्रश्न उठता है ! मैं समझती हूँ कि द्रष्टा को हटाने की कोशिश न करें; 'वह है' इसका भान लिए हुये जियें, तो सभानता की तीव्रता एवं उत्कटता काम कर जायेगी। उसे छुयें नहीं (Leave it alone !) उसे छूने-छेड़ने से अनर्थ हो सकते हैं। प्रयत्नों से कभी किसी का अहङ्कार गया नहीं। चाहे वह द्रष्टृत्व हो या और किसी रूप में हो, प्रयत्न के परिणामस्वरूप अहंकेन्द्र हटता नहीं। सभानता और उसकी व्यथा-वेदना ही काम कर जाती है (Sorrow creates an edge to the person & vitalises.) उस व्यथा में यदि आत्मदया नहीं है कि "मैंने इतना सारा ज्ञान प्राप्त किया, इतने सन्तों के पास गया, इतना सुना-समझा, फिर भी मेरे साथ यही हो रहा है।" —ऐसी आत्मदया के कारण आने वाली ग्लानि और ग्लानि के कारण आनेवाली शिथिलता नहीं है, तो काम होगा। जो यथार्थता है उसके साथ जीना, उसका भान रखते हुए जीना बहुत बड़ा तप है। वहाँ जीवन का सत्य है, आप हैं, और सभानता (awaroness) का सम्बन्ध है। आज तक हम ज्ञान पर अमल करने के ढंग से जीते आये; हमारे भीतर पड़ी हुई समझ की शक्ति का विकास नहीं हुआ।

मानव-जाति का विकास कहाँ अटका हुआ है इसे देखें। भौतिक स्तर पर शारीरिक स्तर पर जो देखना होता है—वस्तुयें दिखती हैं—उससे तत्क्षण कुछ न कुछ प्रतिसाद उठता है। (The perception on the physical level stimulates a response.) जैसे आग लगी है सुना या देखा; तो अनायास रूप से चित्त में आता है कि 'जहाँ आग है वहाँ नहीं जाना चाहिये' या रास्ते में साँप पड़ा है तो 'उससे हट कर जायेंगे'—क्योंकि मालूम है कि साँप विषैला प्राणी है, वह काट ले, डस ले, तो परिणाम मृत्यु तक जा सकता है। मकान में आग लग जाय तब मनुष्य के मन में यह नहीं आता कि इतनी मेहनत करके, इतना सारा

धन खर्च करके यह मकान मैंने बनाया है इसे नहीं छोड़ूंगा। आग लगी तो क्या हुआ ? मैं इसी में बैठा रहूँगा। ऐसा नहीं होता। तुरन्त उस मकान से बाहर निकलने का प्रयत्न होता है, दरवाजे बन्द हों तो खिड़की से कूदने की कोशिश होती है; भीतर पड़ी स्वबचाव की बुद्धि तुरन्त काम करती है, उपाय खोज निकालती है। (Instantaneous response to biological perception & understanding caused by it.) मनुष्य की संवेदनशीलता इस स्तर तक विकसित हुई है।

मानसिक स्तर पर देखें, तो वहाँ कोई पदार्थ नहीं, ईर्ष्या-क्रोध-हिंसा-द्वेष आदि भावनायें व शब्द हैं। शब्द किन्हीं तथ्यों की ओर संकेत करते हैं। उनकी उपस्थिति संवेदनों के माध्यम से आप के भीतर है। शब्दों के माध्यम से जीवन के तथ्य को देखा जाता है, फिर उस देखने का प्रतिसाद भीतर से उठता है। जैसे भौतिक स्तर पर पूरे शरीर में से प्रतिसाद उठा और खिड़की खोलकर आप मकान से बाहर कूद गये। वहाँ क्षण भर भी पहले सोचना नहीं पड़ा, परिस्थिति को प्रतिसाद देने में बीच में विचार का अन्तराल या व्यवधान नहीं पड़ा। जीवित रहने की उत्कट इच्छा ने जैसे वह करा लिया, वैसे यदि यह समझ में आ जाय कि क्रोध कितना भारी नुक्सान करता है—शारीरिक-मानसिक-सामाजिक-मानवीय सम्बन्धों में भी इसे देख चुके हैं आप। अब यदि आत्मनिरीक्षण करें तो उस तथ्य का साक्षात्कार होता है। फिर भी क्रोध छूटता नहीं—इसका अर्थ है कि मानसिक स्तर पर देखे गये तथ्यों को प्रतिसाद देने जितनी संवेदनशीलता मानवीय-चेतना में विकसित नहीं हुई है। मनुष्यजाति के विकास में यह न्यूनता है कि शब्दगत तथ्यों के साक्षात्कार के प्रतिसाद देने की शक्ति पुष्ट नहीं हुई है। वह विकसित करनी होगी।

इसके लिए हम अपने सन्तान को—नई पीढ़ियों को प्रारम्भ से ही इस ढङ्ग से पालें-पोसें एवं विद्यालय आदि में शिक्षण दें कि संवेदनग्रहण के बाद उसकी समझ बनने और उसे प्रतिसाद देने में—यानी जो बात समझ में आ गई उस पर अमल करने में बीच में समय न बीते Time lag न आये। यह स्वाधीनता बच्चों को देनी चाहिये; बात समझने और उस पर अमल करने का शिक्षण उन्हें वातावरण में से मिलना चाहिये।

हो सकता है उनकी समझ और हमारी समझ में अन्तर पड़े, फिर उनके और हमारे व्यवहार के ढंग में भी अन्तर हो सकता है। इसे पचाना पड़ेगा। उतनी उदारता हमारे चित्त में होनी चाहिये। नहीं तो दिन में दस बार यदि बच्चों को सुनाते ही रहे कि "मैंने तुम्हें स्वतन्त्रता दी और तुमने ऐसा किया ? यह लाभ उठाया ?" तो वह स्वाधीनता देना क्या हुआ ! बच्चों की समझ खिलने और उन्हें अपनी समझ आज़माने का मौका तो देना ही होगा न। कभी बच्चे स्वतन्त्रता का दुरुपयोग करें, ठोकर खायें और फिर मदद माँगने आपके पास आयें तो उन्हें भली-भाँति मदद देनी होगी. ठोकर खायी हो तो हाथ पकड़ कर उठाना होगा। यह नहीं कि उसके घाव पर नमक छिड़क दें कि "मैंने तो पहले ही कहा था, तू माना नहीं ! अब खाई न चोट !" ऐसा नहीं !

अपनी समझ पर जीना सिखाने के लिये स्वाधीनता भी देनी होगी और जरूरत पड़ने पर मदद भी करनी होगी। बच्चों को कहें—"तू सोचकर समझकर जो तुझे ठीक लगे वह कर !" यह नहीं कि "समाज क्या कहेगा ? तू दूसरों से पीछे रह जायेगा !" या "तेरे पिताजी को या माँ को बाहर जाने दे फिर तू अपनी मर्जी से काम करना।" ऐसे भय न दिखायें। समाज-धर्म-बिरादरी-परिवार के अन्य लोग—सबका भय दिखाकर उपेक्षित रखा जाता है समझ को। अब बच्चों को नया अभिगम सिखाना होगा कि स्वाधीनता और समझ—दो सर्वोपरि हैं। इनका सौदा न करना ! सुविधा-सुरक्षा के नाम पर इनसे समझौता न करना ! अपनी समझ पर अडिग रहो, वैसा हो चलो, और स्वाधीनता न बेचो। अपनी समझ पर चलते-चलोगे तो तुम अकेले नहीं हो; परमात्मा तुम्हारे साथ हैं। इसका अर्थ यह नहीं कि तुम्हें हमेशा सुख-सुविधा मिलेगी राजमहल मिलेगा, या इस अन्याय-अधर्म शोषण के आधार पर खड़े हुए समाज में तुझे प्रतिष्ठा मिलेगी ! समाज के सफलता-विफलता नापने के माप-तौल-बटखरे अलग हैं। जो साधक है, सच्चे माने में धार्मिक एवं श्रद्धालु व्यक्ति है, उसके सफलता-विफलता नापने के माप-तौल अलग होंगे। चित्त में सन्तोष है या नहीं ? शान्ति है या नहीं ? मनुष्य चिन्तामुक्त है या नहीं ?

अपने साथ हम क्या करें ? जो भी हमारी उम्र हो, जैसे भी हम हों, एक निर्णय हम कर लें कि छोटी से छोटी बात में भी अपनी समझ के

अनुसार हम जियेंगे। इसके लिये शिक्षण तो लेना पड़ेगा, स्वशिक्षण ही साधना है। क्या आप समाज का भय छोड़ सकेंगे ? जाति और परिवार के जो अपने-अपने घेरे और दावे होते हैं उन्हें छोड़ सकेंगे ? लोगों द्वारा की जाने वाली स्तुति और निन्दा, मान-अपमान की चिन्ता छोड़ सकेंगे ? क्या जीवन का मूल्य आपकी नज़र में इससे ज्यादा है ? जीवन जीने का कर्म जो प्रभुपूजा का पुष्प है, क्या उसका इतना महत्त्व आपके चित्त में है कि और सब आकर्षण छोड़ सकें और कह सकें कि "यह बात मेरी समझ में आयी है, मुझे जँची है, इस पर मैं चलूँगा।" आप देख लीजिये अपने आपको ८-१० महीने ! आपने देखा कि शरीर को ७ घण्टे की निद्रा चाहिये, तो पूरे सात घण्टे ही आप सोयेंगे, न कम, न ज्यादा। फिर चित्त उद्विग्न हो, घर में अनर्थ हो, चिन्ता हो, तो बिस्तर में लेटकर भी या समय मिलने पर भी आप सोयें ही नहीं, या समय के अनुसार काम न करके औंधे-मुँह पड़े ही रहें—यह नहीं होगा। जीवन की तफ़सील की बात कह रही हूँ—बड़े महत्त्व की। जीवन की जो भी छोटी-मोटी बातें आप तय करें, उन्हें पूरी करें। जीवन का ऐश्वर्य इन छोटी-मोटी चीजों में ही है, केवल बौद्धिक सिद्धान्तों को पकड़ने या उनकी चर्चा करने में नहीं। सिद्धान्त तो रूखे-सूखे होते हैं, प्रत्यक्ष जीने में रस है। ज्यों-ज्यों आप समझ के अनुसार जीते चले जायेंगे, त्यों-त्यों आकलन और आचरण का अन्तर नष्ट होगा। फिर तथ्यों की ओर संकेत करने वाले शब्द का उच्चारण, उनके अर्थ का ग्रहण, तदनुसार जीवन में परिवर्तन—इसमें समय की दूरी नहीं रहेगी।

This ascendence of the quantum jump in a new sensitivity, is the challenge we are facing today !

यह यदि नहीं करेंगे, और समाज व परिवार के व्यवहारों में पहले से चलती आई रूढ़ियों का अनुकरण-अनुसरण करते ही रहेंगे; अध्यात्म को केवल बौद्धिक स्थान पर ही रखेंगे, उसे पूरे जीवन में—आपके व्यक्तित्व की समग्रता में शामिल नहीं करेंगे—Involvement or commitment of whole being, or totality of your life—नहीं बनायेंगे तो जीवन परिवर्तन नहीं आ सकता। संवेदनशीलता की जागृति के लिये आवश्यक है कि २४ घण्टे के जीवन में आप निर्भय होकर, अपनी स्वाधी-

नता में, अपनी समझ के अनुसार जीयें—किसी के कहने से नहीं। यह आरम्भ करेंगे तो शारीरिक स्तर के त्वरित प्रतिसाद की तरह मानसिक स्तर पर भी त्वरित प्रतिसाद उठेगा। संवेदनशीलता इससे अतीव उत्कट एवं तरल बनती है। सारे तन-मन में वह स्पन्दित होने लगती है।

'द्रष्टा को हटाने' या 'मिटाने' का प्रयत्न नहीं करना है; पुरुषार्थ करना है उक्त नवीन संवेदनशीलता को जगाने का, उसे उत्कट एवं गहरी बनाने का। यही स्वशिक्षण है, यही साधना है।

किसी ने पूछा है कि "मौन में बैठते हैं तो पहले अभ्यास के कारण या संस्कारों के कारण बीच में जप शुरू हो जाता है; तो इसको हम अन्तराय समझें ?"

मुझे नहीं लगता कि उसे अन्तराय या विघ्न मानना चाहिये। पहले किन्हीं संस्कारों के कारण या बचपन में माता-पिता-दादा किसी को मन्त्रजप करते देखा होगा, तो मौनावस्था के उदय के लिये स्वयं को अवसर देने जब आप शान्ति से बैठते हैं तब ५-१० मिनिट बाद कोई जप अपने-आप आरम्भ हो जाता है तो होने दीजिये, उसे भी देखते रहिये। होगा यही न कि जप का नाद एवं अर्थ आप के भीतर चलता रहेगा। उसका विरोध न करें, प्रतिकार न करें; उसे रोकने की कोशिश न करें। क्योंकि आप मौन में बैठे हैं, हो सकता है कि २-४-५ मिनिट वह आपका भूतकाल भीतर जी जायेगा और फिर शान्त हो जायेगा; जैसे अपने आप वह शुरू हुआ था, वैसे अपने आप बन्द हो जायेगा। इसलिये उसे संकट नहीं मानिये, समस्या न बनायें। वह तो एक तथ्य है आपके जीवन का। वह कभी जाग जाता है। ऐसा तो नहीं होगा कि मौन के आयाम में प्रवेश करने गये हैं और एकदम प्रवेश हो जाय। विचार आयेंगे, उन्हें आप देखेंगे, फिर विचारों का दिखना शान्त होगा। कुछ फिर से दिखेंगे। इस प्रकार लौट-लौट आना (lapses) तो होता ही रहेगा। उसे उपद्रव या संकट न मानें। क्योंकि यदि आप उसे समस्या बना बैठेंगे—और उसका उपाय करने लगेंगे तो वहीं आप मौन से हट जायेंगे। इसलिये जो आया देख लिया, वापस चले गये मौन में। मुझे लगता है कि हम प्रौढ़ व्यक्तियों को यह कठिनाई आती है कि सीखने का धीरज बहुत कम रहता है। अन्यथा आप कुछ भी नया सीखने चलें तो

वह एकाएक तो आ नहीं जाता, सीखते समय थोड़ा-बहुत आगे-पीछे होता ही है, पर सीखना चालू रहता है। बच्चों को इसमें कोई परेशानी नहीं होती, प्रौढ़ों को जल्दी गुस्सा आ जाता है, या विषाद आ जाता है, आत्मदया आ जाती है, ठहर नहीं पाते। इसलिये, यदि मौन के लिये बैठते समय कोई जप होने लगता है तो उसे भी देखें; जैसे आकाश में तैरते बादलों को देखते हैं, या उड़ते पक्षियों को देखते हैं, उतनी ही तटस्थता से विचारों को या जप आदि को देखा जाय, उनके शमन का यही एक रास्ता दिखाई देता है।

प्रश्न—धार्मिकता का आध्यात्मिकता से क्या सम्बन्ध है, क्या महत्त्व है ?

उत्तर—प्रश्नकर्ता किसे धार्मिकता कह रहे हैं—यह मुझे मालूम नहीं। व्यक्ति के नाते और समाज के नाते जीवन-धारणा के लिये जो यम-नियम आदि का पालन किया जाता है, उत्सव मनाये जाते हैं, अनुष्ठान किए जाते है; उनमें धार्मिकता का सत्त्व है। उस धार्मिकता में उपासना–आराधना का समावेश है। इससे यदि शरीर की शुद्धि, मन की शुद्धि, बुद्धि की शुद्धि, अहङ्कार शिथिल होना सधता हो तो वह धार्मिकता अध्यात्म में सहायक हो सकती है। लेकिन "मैं धार्मिक हूँ" "मैं हिन्दू हूँ" "मैं सिख–मुसलमान या ईसाई हूँ" मेरी आचरणपद्धति और मेरे यम-नियमादि ही सर्वश्रेष्ठ हैं"—ऐसी यदि व्यक्तिगत या सामूहिक धारणा-प्रतिमा बनती हो, उसके लिए फिर मनुष्य लड़ने को तैयार हो जाता हो,—तो वह धर्म नहीं, अनैतिकता है। (That which divides human beings is not Religion; it is something immoral !) धर्म मनुष्यों को बाँट नहीं देता, परस्पर द्वेषी नहीं बनाता। उपासना-आराधना की पद्धतियाँ-तरीके अलग हो सकते हैं—यह विविधता-विचित्रता-विलक्षणता तो जीवन का ऐश्वर्य है। किन्तु 'धार्मिकता' से आप का आशय यदि सामूहिक-सामुदायिक मान्यता या रूढ़िबद्ध प्रतिमा से है तो मैं उसे धर्म नहीं मानती; वह तो मनुष्य को मनुष्य से अलग करेगा।

यदि धार्मिकता का आशय व्यक्तिगत या सामुदायिक उपासना की पद्धति है, तो उसका अध्यात्म से कुछ विरोध होगा ऐसा लगता नहीं।

अपने घर में कोई गेहूँ के आटे की रोटी बनाये या ज्वार-बाजरे के टिक्कड़ बनाये, या भात ही खाते हों, कोई मिर्च-मसाले का उपयोग करते हों, कोई न करते हों—यह जैसे अपनी-अपनी रुचि व अनुकूलता की विविधता है, उसी प्रकार संस्कारों की भी विविधता है। इन सांस्कारिक विविधता-विलक्षणताओं को मिटा कर पूरे विश्व के मानवों के चित्तों में से संस्कारों के चित्र को पोंछ डालेंगे और अध्यात्म के नाम से मानो एक ही जीवनशैली—एक ही व्यवहारपद्धति बनायी जा सकेगी—ऐसा मेरे देखे सम्भव नहीं। सवाल इतना ही है कि उस 'धार्मिक' धारणा से आप पृथक् अहङ्कार या पृथक् अस्मिता तो पुष्ट नहीं कर लेते हैं? कोई अलग "image" (प्रतिमा) तो नहीं बना लेते हैं? क्योंकि अहङ्कार का स्वभाव आक्रामक है। अहङ्कार या तो भयभीत रहता है या आक्रमण करता है। वह तुलना में, स्पर्धा में उतरता है। वह श्रेष्ठता-कनिष्ठता नापता है। ऐसा तथाकथित धर्म आध्यात्मिक दृष्टिकोण व्यक्तिगत या सामुदायिक जीवन में नहीं आने देता। अध्यात्म है—जीवन के प्रति ऐसा दृष्टिकोण जो तुलना से सर्वथा मुक्त हो। धर्म यदि व्यक्तिगत व सामुदायिक जीवन में तुलनामुक्त दृष्टि नहीं दे पायेगा—सिखा न पायेगा—तो फिर दूसरा क्या वह सिखा पायेगा? (If Religion can not teach us a non-comparative approach to life, what else can teach? spirituality gives a non-comparative approach to life.) तुलना में से स्पर्धा उठती है, स्पर्धा में से आक्रमण पैदा होता है। आक्रमण में से हिंसा आती है। Ego,—assertion,—arrogance out of assertion; arrogance is verbal violence leading to physical violence, then domination, possessiveness, exploitation. —ऐसी शृङ्खला चली चलती है।

इसलिये अहङ्कार उकसाने वाली धारणाओं-मान्यताओं-प्रतिमाओं का विसर्जन यदि आपके धार्मिक आचरण में से होता हो, तो अध्यात्म में वह उपयोगी हो सकता है। कोई एकादशी का व्रत करता है, कोई रोज़े रखता है, कोई गुरुद्वारे में 'सेवा' करता है, 'लंगर' (अन्नछत्र) चलाता है, 'शबद' गाता है, कोई धम्मपद पढ़ता है। मित्रो! इस देश में हजारों वर्षों से ऐसी धार्मिक-सांस्कृतिक-भाषिक विविधता-विचित्रता-विलक्षणतायें जीते चले आये हैं लोग। (There has been sharing

of life in this multi-religious, multi-cultural, multi-linguistic society.) क्योंकि उनकी चेतना की जड़ों में जीवन की अखण्डता का संस्कार पड़ा हुआ था जो अब घिसता चला जा रहा है।....धार्मिकता अध्यात्म के लिये मदद करेगी यदि वह शुद्धिकरण लाती है।

शुद्धिकरण से जीवन में सन्तुलन आ जाता है, धर्म के नाम पर उन्माद नहीं, अहंपाविन्यवाद नहीं। यह मेरी अपनी बात नहीं। स्वामी रामतीर्थ कैलिफ़ोर्निया जा रहे थे; उनका जहाज जापान होकर जा रहा था। जहाज में ही किसी ने उनसे पूछा—"स्वामीजी! धर्म क्या है? What is Religion?" उन्होंने कहा—"That which takes you towards divinity, is Religion." (जो हाथ पकड़ कर आपको दिव्यता की ओर ले जाता है वह धर्म है।) स्वामी विवेकानन्द ने कैलिफ़ोर्निया में किसी के पूछने पर कहा था—"That which divides is sin" जो मनुष्यों को एक दूसरे से अलग ले जाता है, वह पाप है। अन्याय-शोषण-ईर्ष्या-द्वेष-स्पर्धा सब दूर ही ले जाते हैं न एक-दूसरे से! यही पाप है।

धार्मिकता यदि अभिनय नहीं है, दम्भ नहीं, ढोंग नहीं, पाखण्ड नहीं है, चित्तशुद्धि का साधन है, तो वह अध्यात्म की ओर ले जाने वाली ही है। •

कहते हैं—"सत्य कठोर न हो, मृदु हो, प्रिय हो।"
सत्य कठोर हो सकता है—ऐसा क्यों माना जाय?
चट्टानें तोड़ कर जलस्रोत फूट निकलता है; जल को कठोर कहोगे?
छोटे से दीपक की नन्हीं सी ज्योति
घने अँधियारे को चीरती चली जाती है। प्रकाश को कठोर कहोगे?
नन्हें से बालक की सुनहली मुस्कान
वज्र-हृदय को भी विगलित करती है;
उस निष्कलङ्क स्मित को कठोर कहोगे?
सत्य कठोर हो ही नहीं सकता,
सत्य के पास दया-माया भी नहीं रहती।
क्रूरता के आँचल में दया खिलती है,
निष्ठुरता की छाया में माया फैलती है।
सत्य यानी आलोक! सत्य यानी प्रेम का प्रज्ज्वलित आकाशदीप!

षष्ठ प्रवचन

दि० २०-२-८९ प्रातः १०-११ बजे

"स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा" गाते हैं—

इस प्रकार आत्मजिज्ञासुओं के साथ वार्तालाप हमारे जीवन का परमानन्द है। यहाँ शिबिर के लिये आकर जिन्होंने पाँच दिन तक श्रोता होने का कष्ट उठाया और हमें वक्ता बनाया—यह उनकी उदारता है। आप जानते ही हैं कि 'ध्यान' के साथ-साथ हमारा जीवन के अनेक क्षेत्रों में कार्य चलता रहा है, आज भी चल रहा है। अध्यात्म है—समग्र जीवन को देखने की एक सम्पूर्ण नई दृष्टि, समग्र जीवन को जीने की एक सम्पूर्ण नई शैली एवं वृत्ति, मानवजीवन के नये आयाम और आधार, तथा समाजरचना के लिए नया अधिष्ठान, व्यक्ति एवं समाज के चेतनापरिवर्तन व जीवनपरिवर्तन की एक पद्धति—इस सब की कुंजी है अध्यात्म में। ऐसा नहीं होता तो देश को इतनी विषम परिस्थिति में कोलाहल भरी, अराजकता भरी, अस्थिरता-असुरक्षा भरी परिस्थिति में आपके साथ पाँच दिन इस रेवातट पर शिविर के लिये बैठने का साहस नहीं होता। देश की इस हालत में अध्यात्म-शिविरों का जो चक्र इस जीवन में चलता है उसके कुछ कारण हैं जो आपके सामने रखना चाहती हूँ। क्यों ? आपके ध्यान में यह बात आई या नहीं—मुझे पता नहीं कि हम जो यहाँ पाँच दिन साथ रहे और संवाद किया, वह एक प्रामाण्य-मुक्त सहचिन्तन (non-authoritarion enquiry.) था। उसे व्यक्ति-प्रामाण्य से तथा ग्रन्थप्रामाण्य से मुक्त रखने की मैंने भरसक कोशिश की है। मैं आप के पास 'गुरु' बन कर नहीं आयी, साधु-सन्त-योगी होने का दावा करके नहीं आयी; एक मित्र के नाते, माँ-बहन के नाते आयी हूँ। अध्यात्म में एवं पारिवारिक व सामाजिक जीवन में किन्हीं भी प्रामाण्यों से मुक्त सम्बन्ध हो सकते हैं, प्रामाण्यमुक्त जिज्ञासा हो सकती है—इसका एक निदर्शन करना था वाणी से एवं व्यवहार से।

इसका बहुत बड़ा महत्त्व है। प्रामाण्यवाद एवं प्रभुत्ववाद ने सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक क्षेत्रों में जितना नुकसान नहीं पहुँचाया

होगा उतना नुकसान धर्म व अध्यात्म के क्षेत्र में किया है। प्रामाण्य के स्वीकार से ही शोषण का प्रारम्भ होता है। अध्यात्म के नाम से चलने वाला शोषण पिछले ३५ वर्षों से अपनी परिव्रज्या के दौरान मैंने अपनी आँखों देखा है। भारत में और बाहर भी देखा है। जो अतिसमृद्ध एवं विज्ञानप्रेमी-विज्ञाननिष्ठ देश हैं (आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, कैनाडा....) वे धर्म अध्यात्म के नाम पर कैसे अतीव प्रामाण्यवादी हो गये हैं? खास करके उन देशों का युवक-समाज जो पूरे समाज का हृदयरूप (the cream of the society) है उसका कैसा शोषण हुआ है १९४७ के बाद; और भारत से अनेकों साधु-संन्यासी किस तरह निर्यातित (export) हुए हैं उन्होंने कितना शोषण किया है और विज्ञान-यन्त्रविज्ञान की सुख-सुविधा-भरी उपलब्धियाँ पाने के बाद उन्हें छोड़ कर वे कैसे जुड़े हैं भारत साधु-संन्यासी-वेशधारियों की ओर! और मान लिया उन्होंने कि अध्यात्म के लिए किसी न किसी का प्रामाण्य होना आवश्यक है, किसी न किसी को गुरु बनाना अनिवार्य है। आज की सभ्यता में तो जीवन के हर पहलू का व्यापारीकरण (commercialisation) हो गया, अध्यात्म व धर्म के नाम पर भी व्यापार बीभत्स स्तर तक खूब चलने लगा है। किन्तु वस्तुतः सत्सङ्ग के लिए आत्म-जिज्ञासु और आत्मोपलब्ध व्यक्ति के एकत्र होने में किसी श्रेणीबद्ध उच्च-नीच स्तर (hierarchy) प्रभुत्व और प्रामाण्य का होना जरूरी तो नहीं ही है बल्कि अध्यात्म के सन्दर्भ में घातक है—यह बताने के लिये मैं ऐसे शिबिरों में आती हूँ। भारत से बाहर पूर्वी योरोपियन देशों के लोग पोलेण्ड में इकट्ठे होते हैं, जहाँ अपने चार ध्यान-केन्द्र हैं। एकत्र शिबिर किये जाते हैं; रूस में लेनिनग्राद और मास्को में अध्ययन केन्द्र हैं; उन-उन भाषाओं में पुस्तकों के अनुवाद हो चुके हैं। पश्चिम योरोपियन देशों में से अंग्रेजीभाषी देशों के लिए हॉलेण्ड तथा इतर भाषा-भाषी देशों के लिए इटली में ध्यानशिविर एवं कार्य चलते हैं।

भारत में तथा विश्व के अन्य देशों में यह अभिगम (नया अभिगम कहूँ तो शायद अत्युक्ति प्रतीत हो) व्यक्त किया जा रहा है कि विज्ञान के जमाने में सत्तावाद, प्रभुत्ववाद और शोषण का अन्त यदि राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में लाना है तो उसके साथ-साथ या उससे पहले ही धार्मिक-आध्यात्मिक क्षेत्र में भी उस सब का अन्त आना ही चाहिए।

यहाँ हम मित्र की भाँति बैठते हैं। इन पाँच दिनों के सहजीवन एवं संवाद में आपके ध्यान में आया होगा कि सभी सम्बन्धी-कार्यों, व्यवहार-लोक-सम्पर्क में सतत रहते हुए भी समाधि नाम के आयाम को आँच नहीं आती। वह कोई हमारी कमाई नहीं है, यह तो अखिल मानवीय अभिवृद्धि का प्रतिफल या परिणाम (consumation of human growth है। यह एक इशारा है कि सम्पूर्ण मानवजाति के लिए यह सम्भावना है, Potential है। इन पाँच दिनों में अध्यात्म का यह नया अभिगम आपके सामने आया कि परस्पर कैसा सम्बन्ध हो? किस प्रकार जिज्ञासु एवं अनुभवी व्यक्ति एक साथ बैठें, चर्चा करें, संवाद करें। अपना अनुभव एवं प्रज्ञा की बात सब के सामने रखने के लिए टीम के कैप्टन की तरह किसी को बैठना व बोलना होता है यह अलग बात है, लेकिन "मैं कहता हूँ या कहती हूँ—इसलिए इसे स्वीकार करो!"—ऐसा नहीं। वैज्ञानिक अध्यात्म के प्रथम प्रवक्ता (the first prophet of Scientific Spirituality) श्री रामकृष्णदेव परमहंस ने १०० वर्ष पहले ही कहा था अपने पास आने वाले युवकों को कि "मैं कहता हूँ इसीलिए मत मान लेना! जो मैं कहता हूँ उस बात का यदि तुम्हें प्रत्यय (अपरोक्ष प्रतीति, प्रत्यक्ष जैसा विश्वास) आये तो इसे ग्रहण करो, यदि तुम्हें प्रत्यय न आये तो इसे उठा कर फेंक देना!"

वैज्ञानिक अध्यात्म का स्वरूप क्या होगा? जिज्ञासु एवं अनुभवी के सम्बन्धों के क्या आधार होंगे? सम्बन्ध का स्वरूप क्या होगा? यह समझना है। परस्पर स्नेह है, परस्पर आदर है, विश्वास है, सख्य एवं सहयोग का भाव है। ये आधार होंगे अध्यात्म में भी! कोई ऊँचा और कोई उससे नीचा नहीं। भाई! पाँच साल की उम्र से इसी में जिन्दगी खपाई है—"क्या है आत्मा? क्या है परमात्मा?" इसी को देखने सोचने-समझने में। यदि वह तत्त्व समझ में आ गया, उपलब्ध हो गया, तो कौन-सा बड़ा किला जीत लिया (गुजराती प्रयोग में—कौन-सा बड़ा बाघ मार लिया) मैंने? यह तो जो कोई इस दिशा में प्रयत्न करेगा उसके साथ होने ही वाला है; उसके कारण जिज्ञासु-साधक और आत्मोपलब्ध व्यक्ति में अन्तर क्यों हो जाय ऊँच व नीच का? क्यों शरणागत हो जाय जिज्ञासु?

शरणागत की जगह वरणागत हो वह ! वरण करे तत्त्व का ! वरण के साथ सहज समर्पण आता है। शरणागति के भाव के साथ दीनता पनपती है, परावलम्बन पनपता है; तेजोभङ्ग होता है; आत्मविश्वास क्षीण होता जाता है—यदि शरणागति मन-बुद्धि का कर्म हो तो ! यदि शरणागति आनुषङ्गिक परिणाम है प्रेम का, श्रद्धा का, या प्रतीति का ! तो वह शरणागति दीनता नहीं, वरणागति-समर्पणागति हो जाती है।

(दूसरा मुद्दा—) 'धर्माचरण में या अध्यात्मपथ में मनुष्य स्वाधीन नहीं रह सकता, स्वाधीनता का सौदा करना पड़ता है'—यह भी एक गम्भीर भ्रान्ति है इस देश में और विश्व के सभी संगठित (organised) धर्मों में। दुनिया में धर्म के नाम पर जो एक पुरोहितों का वर्ग पैदा हुआ—उन्होंने यह भ्रम पाला है, पोसा है, इसे प्रोत्साहन दिया है, इसे बड़े सरंजाम से बढ़ाया है। इसलिए लोगों के चित्त में यह धँसा हुआ है कि "हम तो दीन-हीन-दुर्बल हैं; हमसे कैसे होगा ? हम कोई 'रमण महर्षि' या 'कृष्णमूर्त्ति' थोड़े ही हैं ? हम कैसे अपने आप अध्यात्म जी सकते हैं ?"—भाई क्या जरूरत है 'रमण' या 'कृष्ण-मूर्ति' बनने की ! आप तो (जो हैं सो) 'आप' ही बने रहिये ! लोग कहते हैं "आत्मसाक्षात्कार या उसकी साधना हम से नहीं हो सकती; वह तो किन्हीं गिने-चुनों के ही वश की बात है, किन्हीं विशेष विभूतियों का ही अधिकार है ! हमारे लिए तो यही रास्ता है कि उनके चरण छुएँ—उनकी शरण में जायें ! वे लोग जैसा कहें वैसा हम करते रहें !"

स्वतन्त्रता और अपना स्वयं का अभिक्रम अत्यन्त मूल्यवान् वस्तुएँ हैं, इनका सौदा नहीं किया जा सकता। स्वाधीनताहीन जीवन भी क्या कोई जीवन है ? अभिक्रम से हीन जीवन क्या मनुष्योचित जीवन है ? लेकिन धर्म-अध्यात्म के नाम से मनुष्य अपनी स्वाधीनता और अभिक्रम की क्षमता व अधिकार का भी सौदा कर लेता है। इन्हें फेंक देता है, और किसी के कहने के अनुसार जीने में सन्तोष मानता है। वैसा जीना एक धन्धा बन जाता है। एक ओर मानसिक व चैतसिक निर्भरता (Psychological & Psychic dependency) और दूसरी ओर प्रभुत्व, अधिकारवाद, दमन (domination)—दोनों का

अच्छा-खासा मेल बैठाया हुआ है, और एक दूसरे को सम्हालते रहते हैं। ऐसी मनुष्य-चेतना के आयामों के निरीक्षण एवं नये आयामों की खोज के लिए ये शिबिर भारत एवं विदेशों में चलते हैं।

यही निर्देश इन शिबिरों में करना चाहती हूँ कि (भारतीय भाषा में कहूँ तो—) आत्मसाक्षात्कार या प्रभु-साक्षात्कार के लिए अथवा धर्म-अध्यात्मानुसारी जीवन के लिए मनुष्य को स्वाधीनता खोने, पर-निर्भर दीन-हीन होने की क़तई ज़रूरत नहीं। आन्तरिक स्वाधीनता जीवन का चरम मूल्य है। फूल जैसे सुगन्ध नहीं छोड़ता, फल अपना रस (खटास-मिठास) नहीं छोड़ता, वैसे मनुष्य को अपनी मनन-चिन्तन करने की, निष्कर्ष निकालने व निर्णय लेने की जो शक्ति है—स्वतन्त्रता है, वह छोड़नी नहीं चाहिए। Brain-washing & indoctrination—if that is detrimental in the name of Political ideology & religious fundamentalism, it is equally disastrous in the name of spirituality. यह बात जोर देकर कहना चाहती हूँ। स्वाधीन रहकर स्वशिक्षण एवं साधना हो सकती है, अपना अभिक्रम कायम रखते हुए हो सकती है। शिबिरों द्वारा यह कहने का व करने का प्रयास है।

क्यों हम स्वाधीनता का सौदा करते हैं? अपने भीतर झाँक कर देखिये—हमें इसी में फ़ायदा लगता है कि स्वाधीनता छोड़कर पराधीनता स्वीकार करें। क्योंकि हमें जिम्मेवारी नहीं लेनी है; जन्मभर नाबालिग बनकर जीना है। अपने कर्म की जिम्मेवारी नहीं लेना चाहते। हम सोचने जाँय—स्वयं निर्णय करके कुछ कर्म करने जायें—उसमें कुछ भूल हो तो! ठोकर खायें तो! अरे भाई भूल करने या ठोकर खाने में बुरा क्या है?

एक घटना याद आई। सन् ६१-६२ की बात है, लोग बुलाते थे प्रवचन के लिये, और मेरे मन में सङ्कोच था। वाराणसी में हम रहते थे, जे० कृष्णमूर्ति हर साल वाराणसी आया करते थे। उनके Foundation के पड़ोस में ही हम रहते थे इसलिये अक्सर मिलना हो ही जाता था। एक दिन बात चल रही थी, दादा धर्माधिकारी, शङ्कररावदेव, अच्युत पटवर्धन आदि सब वरिष्ठ बैठे हुए थे, वहाँ मेरा भी जाना हुआ। चर्चा

चल रही थी । उसी बीच कृष्णमूर्त्ति अचानक मेरी ओर मुड़े, कहने लगे– "Are you terribly concerned about not committing mistake !" ("तू भी इन लोगों की तरह बहुत डरती रहती है क्या कि कहीं भूल न हो जाय !) One who is afraid of committing mistakes, shall not come by the correct action." भूल होने के भय से जो डरता रहता है, चलता ही नहीं, वह कभी मंजिल तक नहीं पहुँचता । जो ग़लती से डरता है वह कभी सही कर्म के पास नहीं पहुँचेगा । ठोकर खाने के भय से जो चलता नहीं, भूल होने के भय से कुछ कर्म करता ही नहीं, वह कभी सही कर्म क्या है इसे खोज ही नहीं पायेगा, सही कर्म कर ही नहीं पायेगा ।

हम जो स्वाधीनता का सौदा करते हैं कि "गुरु ने कहा था, माताजो ने कहा था, पिताजी ने कहा था इसलिये हमने किया ।" ताकि कुछ विपरीत परिणाम आये या भूल हो गई हो तो कह देंगे "अमुक ने कहा था इसलिए किया"—यानी अपने हाथ से किये कर्म की भी जिम्मेवारी हम दूसरों पर थोपकर खुद बचे रहना चाहते हैं ।

'किसी का कहा हुआ' नहीं करना है । सबका सुनना अवश्य है, सुनने के बाद उसमें से अपनी समझ में जो आये वह करना है : समझ में जो आये वह करना है । समझ अपनी होगी—वह फिर 'किसी का कहा हुआ' नहीं रहा । बाज़ार से आप चावल लाये, घर में उन्हें स्वच्छ करके, धोकर पानी और अग्नि का संयोग उचित मात्रा में देकर भात बनाया । अब वह आपकी रसोई का भात है—बाजार के चावल नहीं । वैसे ही जानकारी बहुतों से मिली हो, पढ़ा हो, सुना हो, सोखा हो, पर उसमें से आप में जो समझ निष्पन्न हुई वह आपकी अपनी है । आपने अन्यों से सुने व ग्रन्थों में पढ़े ज्ञान का अपने चित्त में—हाड़-मांस में जीवन में उस ज्ञान का उपयोग करते हुए उसका रन्धन (राँधना) किया, उस ज्ञान का रस सिद्ध किया, तो वह आपका हो गया । वह कहने व लिखने वालों की वस्तु न रही । लेकिन ऐसा करने पर ज़िम्मेवारी हम पर आती है; हम ज़िम्मेवारी लेने से डरते हैं । इसलिये धन दे देंगे, तन से मेहनत कर लेंगे, मन से गुलामी स्वीकार करेंगे,—लेकिन जिम्मेवारी नहीं लेंगे । How long the human race is going to remain at

this juvenile psychological state ? (मनुष्य-जाति कब तक इस बचकानी मानसिक दशा में पड़ी रहेगी ?)

स्वाधीनता का सौदा करने का एक कारण बताया जिम्मेवारी से बचना; दूसरा कारण है यह वृत्ति कि कम से कम समय में, कम से कम परिश्रम में अधिक से अधिक धन एवं सुख-सुविधा कमा लें ! उससे आगे बढ़े हों तो वैसे ही कम समय तथा कम परिश्रम से अतीन्द्रिय शक्तियाँ, सिद्धियाँ मिल जायें, हो सके तो मोक्ष या मुक्ति भी ऐसे ही मिल जाय। अनर्जित आय (unearned income) की चाह है। कोई सिर पर हाथ रख दे और अतीन्द्रिय शक्तियाँ जागृत हो जाँय, चाहे जैसे करा दें पर कोई सब करा दे—बने बनाये भोजन की तरह ! ताकि हम परिश्रम करने से बच जाँय ! कोई पकी-पकायी "मुक्ति" या अतोन्द्रिय शक्ति-सिद्धि दिला दे इसके लिये उसको बेहद चापलूसी-खुशामद करेंगे, धन एवं शारीरिक सुख-सुविधायें दे देंगे, पाँव छुयेंगे—आरती उतारेंगे—दुनियाभर का घटाटोप उनके प्रति सम्मान-प्रदर्शन के लिये करेंगे !—यह सब करना क्या रिश्वत देना नहीं ? और अध्यात्म के नाम पर यह करना क्या चेतना का शोषण नहीं ? इसीलिये कल मैंने कहा था कि तथाकथित गुरु और शिष्य एक दूसरे का शोषण करते हैं। शोषण के धन्धे में पूरी पारस्परिकता है (Reciprosity in the profession of exploitation,)। मेरे हृदय में इस सारी परिस्थिति की जो वेदना है उसका थोड़ा अन्दाज़ आपको आयेगा। यों तो कहना चाहिये 'अनुद्वेगकारी वाक्य, जो सत्य हो, साथ हो प्रिय एवं हितकर भी हो', किन्तु क्या करें, यह अप्रिय व कटु तथ्य भी कहना हो पड़ता है।

इन शिबिरों में हम इतना तो सीख ही लें कि जिम्मेवारी उठाकर कर्म करें, अपनी समझ के नन्हें से दिये के उजाले में ही उदम उठाते चलें। अपनी समझ के आलोक से चला हुआ एक कदम, उधार ली हुई जानकारी के बड़े से बड़े प्रकाश में चले हुए सौ कदमों से कहीं ज्यादा महत्त्व का होता है। दूसरों के अनुभवों और व्यवहारों का अनुकरण-अनुसरण आपकी अपनी अस्मिता-अद्वितीयता को खत्म कर देगा। हम एक दूसरे की प्रतिलिपि (carbon copy) तो नहीं हैं न ! अवश्य ही सम्पूर्ण मनुष्य जाति की पुंजीभूत संस्कारित चेतना हम-आप में से व्यक्त हो रही है, झांक रही है, व्यवहार कर रही है, हमारी शारीरिक-मान-

सिक आवश्यकतायें भी एक समान हैं, किन्तु फिर भी हमारे-आपके भिन्न-भिन्न शरीरों में व्यक्त होती व कार्य करती हुई चेतना में कुछ अद्वितीयता अवश्य है, जिसके कारण हम एक साँचे में ढली पुतलियों की तरह एक दूसरे की प्रतिलिपि या प्रतिछबि नहीं हैं। संस्कारित चेतना एक ही है, आवश्यकतायें समान हैं, फिर भी इन संस्कारों एवं अन्य समानताओं के बावज़ूद कुछ असाधारणता-अद्वितीयता, विशिष्टता हम में है। हम एक दूसरे की नकल नहीं हैं।

अपने भीतर की उस अद्वितीयता की गहराई में हम पहुँच नहीं पाते हैं क्योंकि अनुकरण-अनुसरण आदि यान्त्रिक क्रियाओं में पड़े रहते हैं। साधना के नाम पर हम जो भी करें उसे घड़ी के नाप से नापना ग़लत है, अवैज्ञानिक है। सफलता-विफलता नापने के जो रास्ते मनुष्य ने बनाये हैं वे स्थूल जगत् में ही काम दे सकते हैं, सूक्ष्म सृष्टि में वे अनुपयोगी हैं।

स्वाधीनता को सुरक्षा, सुविधा या तत्क्षण होने वाले परिवर्तन के मोह से हम फेंक न दें। स्वाधीनता सत्त्व है हमारा। अपने अभिक्रम (initiative) और अपनी समझ से जो कुछ घटित होगा उसी से वस्तुतः हमारा गुणात्मक परिवर्तन सम्भव है। यह उधार से होने वाला काम नहीं है।

अब अगले मुद्दे की ओर चलिये। धर्म द्वारा आप पुण्य-सम्पादन करते हैं, समाज में प्रतिष्ठा-सम्पादन करते हैं। अस्थिर-विक्षिप्त चित्त को स्थिर करना, अशान्त मन को शान्त करना भी होता है। वहाँ 'कुछ करने' और 'कुछ पाने' का अवसर है, सन्दर्भ है। हो सकता है धर्म द्वारा अर्थ एवं काम नाम का पुरुषार्थ भी आप सिद्ध कर पायें। लेकिन जिसे अध्यात्म या (spirituality) कहते हैं वह प्राप्ति का क्षेत्र नहीं, उपलब्धि का क्षेत्र है। वहाँ बाहर से कुछ प्राप्त नहीं करना है, जो भीतर पड़ा है उसका जागृत होना है। (Awakening & blossoming of the potential and the awareness of the potential !) आत्मा कहीं से प्राप्त करना है रे ! परमात्मा कहीं आप से बाहर दूर है जो प्राप्त करना पड़े ! कहीं छिपा हुआ है कि परदा हटाकर इन आँखों से उनका दर्शन किया जाय ? वह तो 'भीतर-बाहर-सकल-निरन्तर' है सबमें सर्वदा सर्वत्र ओतप्रोत व्याप्त है।

अध्यात्म है पिण्ड और ब्रह्माण्ड में ओत-प्रोत आत्मा या परमात्म-सत्ता का आकलन व बोध जागृत होना। पिण्ड-ब्रह्माण्ड में एक scale (परत या अनुमाप, जैसे संगीत में मन्द्र-मध्य-तार-सप्तक) का ही अन्तर है—एक सीमित है—मर्यादित है और एक असीम अमर्याद है। लेकिन जो पिण्ड में है वही ब्रह्माण्ड में है, जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है। (We are condensed cosmos.) यह जीवन का सत्य है कि परमात्मा हैं ही हैं। सत्ता एकमात्र उन्हीं की है या अस्तित्व केवल परमात्मा का है; कोई द्वितीय वस्तु या सत्ता है ही नहीं। हम परमात्मा में हैं और परमात्मा हम में हैं। मछली जल में उत्पन्न होती है, जल से वह जीती है और जल में ही समा जाती है। वैसे परमात्मा की सत्ता में हमारा जन्म है, उसकी सत्ता से जीवन है, और उस सत्ता में वापस लौट जाना ही मृत्यु कहलाता है।

अतः अध्यात्म किसी प्राप्ति का क्षेत्र नहीं। हठयोग या तन्त्र-प्रक्रियाओं से जो मनःशारीरिक व अतीन्द्रिय शक्तियाँ-सिद्धियाँ जगायी जाती हैं वह भौतिक क्षेत्र है, अध्यात्म का उससे कोई सम्बन्ध नहीं। जहाँ केन्द्र कायम है, केन्द्र से जो शक्ति व अनुभूति जागृत की जा सकती हैं, केन्द्र में जिन अनुभूतियों का सुख लिया जा सकता है, जहाँ भोक्ता-भोग्य सम्बन्ध है, कर्ता व क्रिया सम्बन्ध है, वहाँ आप मन के ही क्षेत्र में हैं; अध्यात्म का वहाँ कोई सम्बन्ध नहीं। (There is no scope for process of becoming in spirituality.) जहाँ 'कुछ बनना' 'कुछ पाना या कमाना' है वहाँ खूब पुरुषार्थ करना चाहिये। शरीर को स्वस्थ-सशक्त-सक्षम-लचीला बनाये रखने के लिये आरोग्य-सिद्धान्तों को समझना व उन पर अमल करना चाहिये। बुद्धि को सतेज रखने के लिये सम्यक् अध्ययन-मनन-अनुशीलन करना चाहिये। यह विज्ञान का युग है, जीवन के विभिन्न दैनिक क्षेत्रों में वैज्ञानिक उपकरणों-साधनों से काम लेना है अतः उनकी तथा विश्व के भूगोल-इतिहास-समाज-राज्यप्रशासन-सभ्यता-संस्कृति आदि की जानकारी रहनी चाहिये। अपनी जीविका चलाने के लिये उद्योग-धन्धों की जानकारी एवं कार्यक्षमता विकसित करनी ही चाहिये। बौद्धिक, मानसिक व शारीरिक जीवन में प्राप्ति का क्षेत्र है, वहाँ पुरुषार्थ व कर्तृत्व को भली-भाँति काम में लाना ही चाहिये। जहाँ आप अध्यात्म की बात करते हैं, आत्मा को समझने की बात करते हैं

वहाँ 'प्राप्ति' का अभिसन्धि (प्राप्त करने का हेतु चित्त में होना, प्राप्ति का प्रयोजन रखना)—जिज्ञासा को समाप्त कर देगा। साधना के नाम पर यदि प्राप्ति की आकांक्षा होगी तो सीखना सम्भव नहीं होगा। क्योंकि प्राप्ति की दिशा अलग है, प्राप्ति के साधन अलग हैं, प्राप्ति का मानस अलग है, प्राप्ति के परिणाम अलग हैं।

यह बात मैं अपने शिबिरों द्वारा कहती हूँ कि मित्रो अध्यात्म प्राप्ति का क्षेत्र नहीं। समाधि और मोक्ष प्राप्त नहीं किये जाते। चेतना में उनका उदय होता है, वे जागृत होते हैं। यह नहीं कि दो घण्टे समाधि लगी फिर समाधि में से बाहर आ गये। वहाँ भीतर जाना व बाहर आना नहीं होता। हाँ शिक्षण-काल में समाधि से परिचय के क्षणों में यह हो सकता है कि उस आयाम का स्पर्श कभी हो, कभी छूट जाय। किन्तु एक बार उस आयाम में प्रवेश हो जाय तो फिर उसमें से लौटना कैसा ?

"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम"

"कर ले सिंगार चतुर अलबेली। साजन के घर जाना होगा !
वापस फिर नहीं आना होगा !"

यहाँ महत्त्व है समझने और होने का, कुछ 'बनने' या बनने की प्रक्रिया का नहीं। "मैं मुझे बदल डालूंगा ! अमुक जैसा बनूंगा ! मुझे अमुक दशा प्राप्त करनी है !"—यह जिज्ञासा का आशय नहीं है। प्राप्ति की या कुछ बनने की आकांक्षायें भीतर पड़ी हों तो समझना चाहिये कि आत्म-जिज्ञासा-सत्यजिज्ञासा नहीं है। यह तो अहङ्कार ने अभिलाषा का ही नया क्षेत्र पकड़ लिया है। समाज का या राजनीति का क्षेत्र छोड़ दिया, घर-परिवार कुटुम्ब के सम्बन्धों का क्षेत्र छोड़ दिया, ज्ञान और कला के क्षेत्र को छोड़ दिया, और अध्यात्म का क्षेत्र पकड़ लिया कि वहाँ बात नहीं बनी तो यहाँ बनायेंगे, यहाँ कमायेंगे। ऐसे अहङ्कार के क्षेत्र बदल देना कोई धर्म या अध्यात्म नहीं है (Changing the field of ego-centric activity is not Religiosity.)

इतने मुद्दे यदि स्पष्ट हुए हों तो आप अपने घर लौटने पर, बैठकर सोचियेगा कि "मुझे क्या चाहिये" ? सबको 'आत्मा को समझना' चाहिये होगा—यह कहना मुश्किल है।

"मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः ॥"

ये शब्द बड़े महत्त्व के हैं ।

अपने भीतर झांककर देख लें कि हम कहाँ खड़े हैं ? हमें वास्तव में क्या चाहिये ? वहाँ से ही तो यात्रा शुरु होगी ।....रमण कहाँ खड़े थे १२ वर्ष की आयु में ? कि "यह पुस्तकों वाली—विद्यालय में सिखाई जाने वाली विद्या मुझे नहीं चाहिये ।" बड़े भाई के साथ मदुराई में रहते थे । रोज स्कूल में जाना, स्कूल की किताबें पढ़ना-रटना यही क्रम चलता । एक दिन पूछ ही लिया बड़े भाई से कि "यह जो कुछ हम विद्यालय में पढ़ते हैं इससे मोक्ष हो सकता है ? इससे क्या यह समझ में आयेगा कि मैं क्या हूँ ?" बड़े भाई ने कहा कि "अरे इस विद्या से वह कुछ नहीं समझा जा सकेगा, वह इस विद्या का प्रयोजन नहीं है । इस विद्या से तो बस रोजी-रोटी मिलेगी !"—समझ गये बालक रमण, कि मुझे यह नहीं चाहिये और वह छोड़कर अकेले निकल गये ।....दक्षिणेश्वर में गदाधर भट्टाचार्य (श्री रामकृष्ण) रोते रहते थे काली माँ के पास कि "माँ ! मुझ में जो अनेकों सिद्धियाँ आ गयी हैं इनके कारण चेहरे पर तेज झलकता है इन सिद्धियों को वापस ले लो माँ ! क्योंकि इनके कारण लोग मेरे पास भीड़ लगाये रहते हैं, दिन भर सांसारिक बातें करते हैं कि 'मेरा यह काम करा दो, वह फल दिला दो, अमुक विपत्ति हटा दो' !.... माँ ! मैंने क्या इसके लिए भक्ति की थी ? ये सिद्धियाँ मुझे नहीं चाहिए !" उन्हें तो चाहिए था केवल 'माँ' का प्रेम ! कहते थे—"माँ मैं तुम्हारा यन्त्र हूँ तुम यन्त्री हो । तुम चलाओ वैसा चलता हूँ !"—यह श्रद्धा थी उन की । (Whether you call it the Cosmic Intelligence or the Supreme Intelligence, running the whole show, even in your life,)—(आप चाहें तो कहें कि वैश्विक प्रज्ञा या परम चरम प्रज्ञा सारो सृष्टि का एवं हमारे जीवन का भी सारा व्यवहार चला रही है)—भाषा बदल जाती है, बात एक ही है । सौ वर्ष पहले की और आज की भाषा एक तो नहीं हो सकती ।

अतः अपने भीतर टटोल कर देख लें कि आपको क्या चाहिए ? क्या परिवार में क्लेश है, कलह है, इसलिए कोई विश्राम का स्थान

चाहिये ? कोई अपराध नहीं है इसमें कि ऐसे मानसिक विश्राम के लिये आप घण्टे दो घण्टे ऐसे किसी स्थान में जाकर बैठें जहाँ सांसारिक चर्चा न हो। आपसे कोई कुछ अपेक्षा न रखता हो,—ऐसा स्नेह प्रेम आपको चाहिए ? भारत की धरती के ज़र्रे-ज़र्रे में ऐसी तासीर है कि प्रेम लुटाने वाले सन्त यहाँ होते ही रहे हैं, अब भी हैं, तो जो कोई सन्त आपके ध्यान में हों उनके पास जा बैठें। केवल विश्राम से अधिक कुछ चाहिए—आत्मविश्वास कम है, किसी की सलाह चाहिए, सहायता चाहिए, तो सत्सङ्ग में जाइये; अपना दिल खोल कर बात वहाँ रखिये। कुछ समय आश्रम में रहिये; समाधान होने पर चले आइये।

विचारिये कि आपको चाहिए क्या ? आसक्ति के लिए कोई विषय चाहिए ? पति-पत्नी-सन्तान आदि कुटुम्ब से आसक्ति हटा कर 'गुरु' नाम के व्यक्ति पर आसक्ति लादना चाहते हैं ? You should be mercilessly truthful with yourself, You can not casually play around with spiritulity, (आपको अपने आपके प्रति निर्ममता से प्रामाणिक रहना होगा। अध्यात्म में आप यों ही हल्के-फुल्के ढंग से लापरवाही से खिलवाड़ नहीं कर सकते।) अच्छी तरह तीखी-चौकन्नी नज़र से जाँच लीजिये कि आपको क्या चाहिए ? 'मेरा-मेरा' कहने के लिए आपको कोई व्यक्ति चाहिए ? एक नया मानसिक सम्बन्ध चाहिए ? घर-परिवार में जितने सम्बन्ध हैं उनमें क्लेश है, या उन्हें निभाने में श्रम करना पड़ता है तो एक नया सम्बन्ध बनाना चाहते हैं जहाँ मन आराम के कल्पनालोक में रह सके ? तो आप अपने नाप का गुरु बना लेंगे। आपको जैसा आश्रय चाहिए वैसा ले लेंगे। लेकिन फिर यह मत कहिये कि "उस गुरु से 'मुक्ति' नहीं मिली; या आध्यात्मिक उन्नति नहीं हुई।" क्योंकि वास्तव में मुक्ति या अध्यात्म आपको चाहिये ही नहीं था। आपको जो चाहिए था वह आपने खोजा और पाया। या तो आप किसी का अनुकरण करते रहे। जिस व्यक्ति का अनुकरण किया—जिसके शब्दों को रटते रहे उसकी शायद वह प्रतीति हो, किन्तु आपने तो केवल नकल ही की ! उस प्रतीति तक स्वयं पहुँचने का प्रामाणिक प्रयत्न तो नहीं किया ! शब्द तो छिलके मात्र हैं। आपने उधार शब्द ले लिये, बाहरी शैली व पद्धति की नकल करते रहे; फिर

कहते हैं "इतने लम्बे समय तक अमुक महात्मा का सत्सङ्ग किया हम में तो कुछ नहीं बदला; हम कहीं न पहुँचे !"

भाई, आप तो अनुकरण करते हुए उधार का या 'उतरा हुआ' (secondhand) जीवन जी रहे थे; या आसक्ति का पात्र बदल कर वास्तव में आसक्ति को ही जी रहे थे—तो भला परिवर्तन कैसे होता !···· बहुत वर्ष पहले की बात है एक बार माँ आनन्दमयी के एक भक्त मिले थे। (मेरा सम्बन्ध आनन्दमयी माँ से बहुत पुराना—मेरी १४ वर्ष की आयु से रहा)—वे भक्त कहने लगे कि "२५ वर्षों से 'माँ' के पास हूँ, लेकिन मेरा तो कुछ बना ही नहीं।" मैंने सुन लिया, इतना ही कहा कि "यह बात माँ से कहिये, मुझसे नहीं। मैं कौन होती हूँ जवाब देने वाली !"··· इसके बाद ६–७ महीने बीत गये। मैं तो प्रवासी पंखी हूँ, प्रवास चलता ही रहता है। इसी में एक बार वाराणसी पहुँची तो मिलने गई माँ के आश्रम में। मेरे दो आप्त रहे वहाँ, म० म० गोपीनाथ कविराज एवं आनन्दमयी माँ। माँ के पास गई, तो क्या संयोग रहा कि ज्योंही मैं वहाँ बैठी कि वे सज्जन भी आ पहुँचे माँ को प्रणाम करने। बड़े सुख्यात डॉक्टर थे, बहुत ही भले आदमी। मैंने माँ से कहा कि "ये आपकी शिकायत कर रहे थे।" माँ बोलीं—"हैं ! बच्ची की शिकायत कर रहे थे ? क्या कह रहे थे ?" मैंने कहा—"कह रहे थे कि २५ साल से आपके पास हैं पर कुछ बना ही नहीं !" सुनकर एक पलार्ध बड़ी करुणा भरी दृष्टि से उन्होंने उन सज्जन को देखा, फिर कहने लगीं उनसे—"बाबा ! तुम जब इस बच्ची के पास आये थे तो इसने तुम से क्या कहा था ?—कहा था न कि बाबा ! हाथ-पाँव तोड़ो और पड़े रहो ! बाबा, यहाँ मर जाओ !—(अर्थात् सङ्कल्प-विकल्प छोड़ो, अहं विसर्जित होने दो ! कर्ता-भोक्ता न रहो !)—बाबा को मरना आया ही नहीं, तो काम कैसे बनता ? अभी भी मर जाओ न बाबा !"···· 'माँ' 'माँ' कहते रहें पर माँ ने जो कहा वह कर न पायें तो कैसे काम बनेगा ? फिर कैसे शिकायत कर सकते हैं कि सत्सङ्ग किया पर कुछ हुआ नहीं भीतर !

एक बार रोम में संयोगवश जे० कृष्णमूर्ति एवं उनके मित्र श्री आल्डस हक्सले के साथ बैठना हुआ। बातचीत के बीच श्री हक्सले ने

श्री कृष्णमूर्ति से कहा—"Krishnaji, I have known you for forty years, Yet I am where I was forty years ago !" (चालीस वर्षों से हम एक-दूसरे को जानते हैं, पर मैं आज भी वहीं हूँ जहाँ चालीस वर्ष पहले था।) कृष्णजी ने हाथ से इशारा करके पूछा कि "क्यों ? ऐसा क्यों हुआ ?" तो आल्डस ने कहा "Because of you !" (आप के कारण।) कृष्णजी ने पूछा "How come ? (यह कैसे ?)" तब आल्डस बोले कि "आरम्भ में ही आपने कहा था कि सब प्रामाण्य (Authority) छोड़ो ! तब एक हाथ से सब प्रामाण्य छोड़ दिये, पर दूसरे हाथ से आपको पकड़ लिया था। इसलिए आपके बन्धन में पड़े हुए हैं।" तब कृष्णजी ने कहा "Cut down that Krishnamurti into pieces & throw him out of window ! But for heaven's sake Be Free !" (उस कृष्णमूर्ति को टुकड़े-टुकड़े करके बाहर फेंक दो। पर भगवान् के वास्ते आज़ाद बनो !)

लेकिन हमें आजादी चाहिए हो तो न ! हमें तो पूजा करने के लिए व्यक्ति चाहिए ? कोई आश्रय चाहिए। मित्रो ! घर जाकर अपने आपसे सवाल पूछियेगा कि वस्तुतः क्या चाहिए ? जहाँ आपके आज के 'अहं' या 'अहंचेतना' की सुरक्षा नहीं, जहाँ वैश्विक चेतना आप पर कब्जा कर लेती है, आपके मनोरथ एवं हिसाब-किताब से अलग ही रहते हुए अपने ढंग से वैश्विक रूप से कार्य करने लगती है। जैसे विश्व में काम करती है, वैसे आपके शरीर में से करेगी !—ऐसे स्वयं निःशेष होकर वैश्विक चेतना को आप में से काम करने देना है ?—इतना अपने आप से पूछिये। बुद्धि की मर्यादायें जानने के बाद, उसके किनारे या कगार पर आ खड़े होने के बाद यह जो अन्तिम—'अज्ञात में छलाँग लगाना' है—इसके लिए तैयार हैं आप ? वैश्विक चेतना आपके साथ क्या करेगी नहीं कहा जा सकता। महलों में रखेगी या भूखों मारेगी ? जगह-जगह भटकाये-घुमायेगी या कहीं एक ही जगह स्थिर बैठा देगी ? आपको गूँगा बना देगी या दिन-रात बुलवायेगी ?—मालूम नहीं। You will not be at the center to shape & mould your life any more ! (आप अपने जीवन की दिशा व रूप निर्धारित करने की स्थिति में नहीं रहेंगे !) है भरोसा ! कि वह जो अज्ञात-अज्ञेय विश्वचेतना

जगदम्बा है वह चाहे जो करे इस जीवन के साथ! "नहीं, नहीं, अवश्य वह विश्वचेतना जागनी चाहिये, आत्मसाक्षात्कार, प्रभु-साक्षात्कार सब होना चाहिये, लेकिन मेरे जीवन की डोर मेरे ही हाथ में रहनी चाहिये; आत्मसाक्षात्कार या ईश्वर-दर्शन मेरी ('अहं' की) अतिरिक्त योग्यतायें या पदवियाँ बनें।" (The self-realisation or God-realisation be the extra qualifications of the Ego.) यह यदि मन में है तो आप ज्ञात के किनारे पर ठिठक जायेंगे या वापस ज्ञात में लौट जायेंगे।

अज्ञात यदि सच्चिदानन्दमय है तो उसका भय कैसे? ये जो स्थिरता-सुरक्षा की दीवारें अपने चारों ओर खड़ी की हैं ये ही प्रिय लगती हों, इन्हीं में बने रहना चाहते हों तो आप ज़िन्दगीभर इन दीवारों के भीतर ही क़ैद रहेंगे और स्वाधीनता की बातें करते रहेंगे। मित्रो! मनुष्यजाति आज पहले ही अनेकों आन्तर-विरोधों से घिरी हुई है, 'शिज़ोफ्रेनिक' हो चुकी है, अब अध्यात्म के नाम से और नये आन्तर-विरोध पैदा न करें। अपने को वस्तुतः जो चाहिए उसकी दिशा में चलें। यह न कहें कि "किसी गुरु के कारण या किसी ग्रन्थ के कारण हम अटक गये या भटक गये।" हम अपनी ही दुर्बलताओं के कारण किन्हीं हेतुओं व स्वार्थ के कारण अटक-भटक जाते हैं। इसका दोष किसी पर न थोपें। अरे पत्थर पर भी श्रद्धा रखो तो काम बनता है, क्योंकि काम पत्थर नहीं करता—आपकी श्रद्धा फलती है (The dynamics of faith.)

....देश की गम्भीर परिस्थिति में भी आपके साथ बैठकर इन गंभीर चर्चाओं में क्यों उतरती हूँ—यह बतलाना आवश्यक था; कि ध्यान का मार्ग किस प्रकार जीवन की आमूलाग्र क्रान्ति एवं समग्रपरिवर्तन का मार्ग है। It is not an intellectual conviction, It is a field of total involvement. अज्ञात-अज्ञेय की, परम सत्ता की बातें करें और सुबह से रात तक ज्ञात की परम्पराओं-रूढ़ियों तथा विचारों-संस्कारों के प्रामाण्य के घेरे (The authority of known, the authority of thought) में घूमते रहें, उस चक्रव्यूह से निकलें नहीं—तो क्या बनेगा? ज्ञात को छोड़ना नहीं और मन में मानते फिरना कि हम आध्यात्मिक साधक हैं—इस भ्रम में से निकलना आवश्यक है।

सहज प्रेम

कहते हैं "सब पर प्रेम करो !"
प्रेम भी क्या 'करना' होता है ? प्रेम भी 'कर्म' है ?
मानव का अहं तो देखो ?
कितना गहन गम्भीर ! कितना प्रबल जटिल !
वह प्रेम करेगा ? किस पर ? "सब पर ।"
यह 'सब' क्या है ? 'सब' कौन हैं ? अहं की पुष्टि के साधन ।
तन के घेरे में, मन के डेरे में कैद हुआ जीवन ।
घेरे को-डेरे को, देता है निजता का दान ।
उसमें पला अहङ्कार, अपने को करता है अलग ।
'ममता' के बाहर जो है, कहलाता है वह 'सब' ।
सब पर 'इतर-जन' पर, फिर 'अहं' करेगा प्रेम ।
ग़ज़ब है मन की माया, ग़ज़ब है मूढ़ मानव !
तुम क्या जानो प्रेम !!
प्रेम कर्म नहीं रे भाई, प्रेम ज्ञान भी नहीं ।
तन का घेरा ढह जाता है, मन का डेरा उठ जाता है ।
नीरव निगूढ़ मौन तब मन्द-मधुर हँसता है ।
मौन के आलोक से आकृष्ट हो तब चेतना
सहज कम्पित सहज स्पन्दित ।
प्रेम है वह सहज कम्पन । प्रेम है वह सहज स्पन्दन ॥

❀ ❀ ❀ ❀

रीत प्रीत की अग्निशिखा-सम ऊँचे-ऊँचे जीवन की ।
रीत प्रीत की सागर-तल सम गहरे-गहरे जीवन की ॥
रीत प्रीत की निर्मल-नभ-सम बिन बोले संग निवसन की ।
रीत प्रीत की कोमल जल-सम अनबोले मल धोवन की ॥

ध्यान कैसे ? क्यों ? कब ?

किसी ने पूछा—"ध्यान कैसे किया जाय ?"
प्रश्न सुन कर आश्चर्य हुआ।
ध्यान क्या कोई कर्म है जो किया जायेगा ?
कर्म में कर्त्ता की सत्ता अभिप्रेत है।
कर्ता और कर्म के बीच समय खड़ा होता है।
कर्ता और कर्म का सम्बन्ध अवकाश का सर्जन करता है।
जहाँ समय एवं अवकाश का प्रवेश है,
वहाँ मन का ताण्डव चलता है।
मन की उपस्थिति में ध्यान असम्भव होगा।
मन की सम्पूर्ण अनुपस्थिति ही ध्यान का अधिष्ठान है।
मन के न होने में, मन के मौन में, ध्यान का उदय है।
ध्यान का होना एक अद्‌भुत अनुभूति है।
ध्यान में समग्र व्यक्तित्व सहज सन्तुलन से भर जाता है।
सहज सन्तुलन में स्वयम्भू शान्ति का प्रसाद है।
शान्ति से सुरभित सन्तुलन जब
श्वास-निःश्वास की लय में ताल देता है,
तब ध्यान सध गया—ऐसा समझा जाय।
ध्यान होता है, किया नहीं जाता।
ध्यान खण्डित हो ही नहीं सकता।
सहज सावधानता का सङ्गीत
ध्यान का अनिवार्य परिणाम है।

ध्यानावस्था का परिचय—
(१) सहज सहृदय सावधानता
(२) सहज समग्र सन्तुलन
(३) सहज स्वयम्भू शान्ति

सत्य की उपलब्धि कठिन नहीं है, प्रभु का साक्षात्कार दुर्लभ नहीं है। हमारे भीतर वही एकमात्र आकांक्षा रह जाय—यह दुर्लभ है।···· हमारे एक मित्र थे। मध्यपूर्व में प्रवास पर गये। एक सम्पन्न घर में उनका मुकाम (ठहरना) हुआ। उनके दीवानखाने में सोने के पिंजरे में एक तोता रखा हुआ था। वह बड़ी स्पष्ट व तेज आवाज़ में पुकारता था—"Freedom ! Freedom !" (स्वाधीनता !) मालिक ने यह शब्द उस तोते को सिखाया हुआ था। कोई भी उस कमरे में जाय कि वह तोता जोर से बोल उठता "Freedom ! Freedom !" हमारे मित्र ने लगातार तीन दिन यह सुना। इनके मन में आया कि यह घर का मालिक कैसा है कि बेचारा तोता दिन-रात "आज़ादी-आज़ादी !" चिल्लाता रहता है पर ये उसे आज़ाद कर नहीं देते। उसी रात उन्होंने उस कमरे की खिड़की खोल दी, और सोने से पहले उस पिंजरे का दरवाजा भी खोल दिया। इन्हें लगा कि "मैंने कितना बड़ा पुण्यकर्म किया है कि आज़ादी के लिए तरसते इस जीव को आज़ाद होने का रास्ता दे दिया।" प्रसन्न मन से मित्र सो गये। सुबह उठकर दबे पाँव उस कमरे में गये कि वह पंखी चला गया होगा; वापस खिड़की बन्द कर दें। पर देखा कि दोनों दरवाज़े खुले होने पर भी वह तोता अपने पिंजरे की शलाका को ही पकड़े बैठा हुआ चीख रहा है—Freedom ! Freedom ! क्योंकि खिड़की के बाहर, खुले आसमान में तो न जाने कितने खतरे हैं ? अच्छा है न पिंजरे में बैठना ! यहाँ तो अनार के दाने मिलते हैं, अच्छे-अच्छे स्वादिष्ट फल मिलते हैं, ताजी चटपटी लाल मिर्च भी मिलती है, स्वच्छ पानी मिलता है !··· मित्रो ! ज्ञात की सुरक्षा हम छोड़ना नहीं चाहते। ज्ञात को छोड़ना या उपेक्षा करना नहीं, ज्ञात का भी सम्मान रखना चाहिये, लेकिन उसी से चिपके रहें तो अज्ञात का परिचय कहाँ से पायेंगे ?

[यह कैसेट् यहीं पूरा हुआ। पूर्णाहुति के शेष वाक्य ध्वन्यङ्कित नहीं हुए।]

चैतन्य के साम्राज्य में

'आज' यानी इस क्षण का विस्तार;
बीता 'कल' यानी स्मृतिगौरवित शवसम्भार
आने वाला 'कल' यानी कल्पना द्वारा आरोपित स्वप्न-शृङ्गार।
वस्तुतः वर्तमान, भूत और भविष्य—यह सब
मन की माया, कल्पना का विलास।
निर्देश की पकड़ में और सङ्केत की पहुँच में
जीवन आयेगा ही किस प्रकार?
'है' और 'नहीं' के आवरण में
जीवन लपेटा जायेगा किस प्रकार?
क्षणों की कैंची से काल को काट कर
उसके टुकड़े करेंगे किस प्रकार?
इसलिये कहती हूँ मन की माया पहचानो!
मन के आकलन में उन्मनी का जन्म है।
चित्त के विलोपन में चैतन्य का विस्फोट है।
उस अनवच्छिन्न अनवरुद्ध चैतन्य के साम्राज्य में
काल स्वयमेव विलीन होता है;
उस चैतन्य के स्पर्श में अवकाश स्वयमेव खो जाता है।

किसी ने पूछा—"ध्यान में आप क्यों बैठते हैं ?"

उत्तर हुआ—"आनन्द आता है बैठने में।

स्नान में आनन्द है वैसे ध्यान में भी आनन्द आता है।

प्रश्न—"बैठ कर करते क्या हैं ?"—"कुछ भी नहीं।"

प्रश्न—"मान लीजिये हम भी बैठ गये। फिर क्या करें ? मन तो इधर-उधर दौड़ता है।"

उत्तर—"दौड़ते हुए मन को निश्चिन्तता-पूर्वक देखें।"

प्रश्न—"देखने से क्या होगा ?"

उत्तर—"वह अभी कैसे समझ सकोगे ? कैसे बताया जा सकेगा ? बैठ कर देखा तो जाय कि क्या होता है !

प्रश्न—"फिर आगे क्या करना होगा ?"

उत्तर—"वह समझाया नहीं जा सकता। यह क्या कोई बना-बनाया गणित है ? नहीं। पहले आप शान्तिपूर्वक एक स्थान में मौन बैठ कर मन का खेल देखना शुरू कीजिये। बाद में सोचा जायेगा कि अगला कदम कोई है या नहीं ?"

मौन के अथाह सागर में डुबकी लगाये बिना ही लोग सवाल पूछते हैं। सागर के किनारे खड़े होकर तैरना सीखना चाहते हैं। यह बुद्धि का पागलपन (intellectual mania) आज के विश्व की व्याधि है। मन को प्रत्यक्ष नाचते हुए देखना, उसकी हर हरकत की जड़ में छिपी हुई वासना को समझना, एक अद्भुत अनुभूति है। यह समझने की घटना समग्र व्यक्तित्व को झकझोर कर बदल देती है।

ध्यान में बैठ कर अवलोकन एवं आकलन को उन्मुक्तता से विहार करने का अवसर देना एक महान् पुरुषार्थ है।

अवलोकन में मूल्याङ्कन रहता नहीं। आकलन में प्रतिक्रिया को स्थान नहीं। जितनी तटस्थता होगी उसके अनुपात में अवलोकन होगा। जितनी नम्रता होगी उसके अनुपात में आकलन होगा।

इसलिये प्रतिदिन किसी प्रशान्त स्थान में मौनपूर्वक बैठ कर शान्तिसागर में गोता लगाया जाय; अभ्यन्तर का प्रक्षालन किया जाय।

अनावृत जीवन

अञ्जलि-पात्र भर-भर के मैं
सुख-दुःख की दारुण वारुणी पी चुकी हूँ।
सुख के साथ दुःख उतना ही सहज है
जितनी प्रकाश के साथ छाया।
सुख की छाया ही तो दुःख है,
दुःख-विरहित सुख क्या कभी किसी ने पाया है ?
सुख का कालकूट और दुःख का हलाहल
मैं अञ्जलि-पात्र भर-भर के पी चुकी हूँ;
उस वारुणी का नशा मैंने देखा है,
उस गहन विष की ज्वाला में मैं झुलस चुकी हूँ।

सज्जनों ने, आप्तजनों ने कहा—
सुख पर संयम का उपचार करना चाहिए।
यतियों-संन्यासियों ने कहा—
विराग के अनुपान से ही सुख का सेवन करना चाहिए।
साधु-सन्तों ने उपदेश किया—
दुःख-सेवन में श्रद्धा का अनुपान अनिवार्य है।
भक्त-भागवतों ने विकल हो कर कहा—
शरणागति से ही दुःख-संहार सम्भावित है।
धर्म-मार्तण्डों ने साग्रह सूचन किया—
तप-तितिक्षा के बल पर सब-कुछ सहनीय है।

नम्र जिज्ञासा से मैंने सब बातें सुनीं; किन्तु
मुझे सुख-दुःख के उपचारों की ज़रूरत नहीं थी।
मुझे सुख-दुःख से संरक्षण अपेक्षित नहीं था,
मुझे सुख-दुःख से अतीत जाना भी अभिप्रेत नहीं था।
सुख में जिसकी हँसी निखर उठती है—
दुःख में जिसके आँसू बिखर जाते हैं—
उस जीवन का मुझे निगूढ़ आकर्षण था,
उसके साक्षात्कार की मुझे उत्कट आकांक्षा थी,
निरन्तर गतिशील जीवन के स्पर्श के लिए
मेरे सर्वाङ्ग में आतुरता का तूफ़ान जाग उठा था।

इसलिये मैंने सुख-दुःख का स्वागत किया
दिल खोल कर सम्पूर्ण जागृति में दोनों से मिली।
सुख का उन्माद और दुःख का नशा अपने ऊपर चढ़ने दिया।
लेकिन उस नशे में भी मेरा होश पूरा-पूरा बना रहा।
ऐसा होश जिसे बेहोशी छू ही न सकी।
उस सावधानता के आलोक में एक आश्चर्य घटित हुआ;
सुख-दुःख के आवरण हटा कर अनावृत जीवन प्रकट हुआ!
बाहें फैला कर हम एक-दूसरे से मिले—
और दोनों ही उस मिलन में विलोपित हो गये।
पूछोगे कि शेष क्या रहा?
उसे शून्य कहूँ या पूर्ण—यह भी मुझे मालूम नहीं।

❀ ❀ ❀ ❀

उन्मीलन

मेरा मुकुलित जीवन आज खिल उठा है,
क्यों? कैसे?—मैं नहीं जानती।
दश-दिशाओं में सौरभ फैल रहा है,
उसे कैसे छिपाऊँ?—मैं नहीं जानती।
लावण्य की ऊर्मियाँ उमड़ रही हैं,
उन्हें कैसे समेट लूँ?—मैं नहीं जानती।
आनन्द का ओघ अनावृत हो उठा है,
उसको कैसे रोकूँ?—मैं नहीं जानती।
मौन की स्वरावलि उन्मुक्त हो उठी है—
उसको कैसे शान्त करूँ?—मैं नहीं जानती।
अनवरुद्ध चैतन्य झिलमिला उठा है,
रोधित होना चैतन्य का धर्म ही नहीं।
सुरभित जीवन उन्मीलित हो उठा है,
सिमट जाना जीवन का धर्म ही नहीं।

एकाकी

आप्तकाम का नीरव एकान्त ! अभेद्य, अक्षोभ्य, अविचल !
जनसमूह के घोर सम्पर्क में अविच्छिन्न समाधि का एकान्त !
इस एकान्त का एकाकी प्रवासी
होता है पथहीन, दिशाहीन, लक्ष्यहीन !
इस एकाकी की जीवन-यात्रा
रहती है निःशब्द, निगूढ़, निरवधि !
एकाकी अलग और अकेला अलग
अकेलेपन में सङ्गति की अभीप्सा चीत्कारती है,
एकाकीपन में जीवन की पूर्णता छलकती है।
अकेलेपन में साथी की प्रतीक्षा छटपटाती है,
एकाकीपन में परिपूर्ति की ज्योति प्रज्ज्वलित है।
अकेलेपन में रिक्तता का भूत सताता है,
एकाकीपन में मौन का सङ्गीत अनुनादित होता है।
इसीलिये
मेरी जीवन-यात्रा का अर्थ स्नेहीजन समझ नहीं पाते;
मेरी जीवन-यात्रा का मार्ग आप्तजन देख नहीं पाते;
मेरी जीवन-यात्रा का मर्म साथी-संगाती खोल नहीं पाते;
सखाजन साथ मेरे जी नहीं पाते
इसीलिये मेरे सान्निध्य का सुख उन्हें मिलता नहीं।
साथ रहने वाले मेरे शब्द समझ नहीं पाते
इसीलिये उनको संवाद का सुख मिलता नहीं।
किन्तु मैं विवश हूँ,
एकान्त—एकाकी की यह निर्हेतुक यात्रा ऐसी ही चलती रहेगी।